



पृथ्वी दिवस की हार्दिक शुभकामनाएं ।
पृथ्वी को बचाएं जीवन को बचाएं ।

वर्ष २ अंक १९
विक्रम संवत् २०७७ चैत्र
अप्रैल २०२०



आर्ष क्रान्ति

वैदिक समाज व्यवस्था के लिए समर्पित



पं. गुरुदत्त विद्यार्थी
१८६६-१८९०

महात्मा गुरुदत्त के
जन्मदिवस की
हार्दिक शुभकामनाएं

भारतीय संस्कृति
को बचाएं ।
वैदिक धर्म को बचाएं ।



ये वैदिक उद्घोष अपनाएं

वैदिक धर्म ,संस्कृति और विद्या
के मूल्यों का पालन करें – महामारी से बचें !
आयुर्वेद अपनाएं –महामारी से बचें
वैदिक अभिवादन – नमस्ते अपनाएं और हाथ जोड़कर नमस्ते करें ।
वैदिक भोजन – शाकाहार ।
वैदिक जीवनशैली – सादा जीवन उच्च विचार ।
वैदिक दर्शन का उपदेश –स्वयं पालन करें तब दूसरे को उपदेश करें
वैदिक मूल्य – परिवार में सब के साथ पूरकता बनाए रखें ।
वैदिक राज संदेश – शासन के नियमों का पालन करें ।
वैदिक जीवन संदेश– आत्मानुशासन में रहें ।
स्व अनुशासन का हम सभी पालन करें ।
वैदिक धर्म दर्शन – परमपिता परमात्मा में विश्वास रखें ।
आनंद का अनुभव स्वयं में करें । स्वाध्याय के लिए ज्ञान की पुस्तकों
का स्वाध्याय करें और शांति बनाए रखें । अपरिग्रह का पालन करें ।
अभय का पालन करें । मानवीय मूल्यों का पालन करें ।

महा आपातकाल है

प्रत्येक व्यक्ति की परीक्षा की घड़ी है ।

घर में रहें –सुरक्षित रहें ।

स्व अनुशासन और राज्य के अनुशासन का अतिक्रमण न करें ।



ओ३म्

आर्य लेखक परिषद् का मुख पत्र

आर्ष क्रान्ति

अप्रैल २०२०



वर्ष-२ अंक-१६,
विक्रम संवत् २०७७
दयानान्दाब्द- १६६
कलि संवत् - ५१२१
सृष्टि संवत् - १,६६,०८,५३,१२१

प्रधान सम्पादक
वेदप्रिय शास्त्री
(७६६५७६५११३)

सम्पादक
अखिलेश आर्येन्दु
(८१७८७१०३३४)

सह सम्पादक
प्रांशु आर्य (कोटा)
(६६६३६७०६४०)

आकल्पन
प्रवीण कुमार (महाराष्ट्र)

सम्पादकीय कार्यालय
ए-११, त्यागी विहार, नांगलोई,
दिल्ली-११००४१
चलभाष- ८१७८७१०३३४

अनुक्रम

विषय

- १ रुद्र का प्रकोप (सम्पादकीय)
- २ मानसिक विकृति, कुविचार.....
- ३ अब तक आ न सके (कविता)
- ४ First Ashrama : Brahmcharya.....
- ५ प्रभु भक्त संसार-महासागर से तर जाते हैं
- ६ क्या वेदों के चार विभाग वेदव्यास ने किए?
- ७ मानवता है कितनी त्रस्त (कविता)
- ८ वैदिक संस्कृति के उज्ज्वल आदर्श
- ९ रामायण में सीता की अग्निपरीक्षा
- १० उपयोगी बातें कोरोना के लिए (कविता)
- ११ A Biographical sketch.....

ईमेल - aryalekhakparishad@gmail.com

वेबसाइट - <https://aryalekhakparishad.com/>

फेसबुक  आर्य लेखक परिषद्

रुद्र का प्रकोप

रुद्र वेद प्रतिपादित अनेक देवों में से एक है। प्रजापति इस रुद्र के सहयोग के बिना प्रजा की रक्षा और पालन नहीं कर सकता। रुद्र की पहचान यह है कि यह रुलाता है। जो रुलाए वह रुद्र है। यह भयंकर है, मारक है और संहारक है। यह रक्षक है चिकित्सक है, जीवन भी देता है और मृत्यु भी। रुद्र किसी को क्षमा नहीं करता। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती अन्यथा यह तत्काल प्रहार कर देता है। अतः प्रजापति को सदैव इस रुद्र का सौमनस्य प्राप्त करते रहना अनिवार्य है। इसके लिए यह आवश्यक है कि इसका भोग भाग इसे मिलता रहे और सब काम नियमानुसार होते रहे। अनियमितता यह कदापि सहन नहीं करता। इसके निषिद्ध क्षेत्र में भला या बुरा कोई भी प्राणी जाने अनजाने भी यदि प्रविष्ट हो जाता है तो यह उसे मार ही डालता है। आवश्यक होने पर यह प्रजापति पर भी प्रहार करने में संकोच नहीं करता। परन्तु इसकी नियुक्ति प्रजा की जीवन रक्षा के साथ उसे सुखी बनाने के लिए की गई है। यह रुद्र है तो एक परन्तु इसके रूप अनेक हैं। इसके सभी रूप भयंकर, क्रूर, मारक और दुखदायक हैं। परन्तु इसका एक रूप ऐसा है जो सुखदायक, शांतिदायक और कल्याणकारक है। इसलिए सभी इसके इसी रूप की कामना करते हैं। वेद में इसका वर्णन निम्नलिखित रूप में किया गया है –

**ओम् नमः शंभवाय च मयोभवाय च
नमः शंकराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च॥**

तथा

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरोपापकाशिनी।

तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥

अर्थात् हे रुद्र! तुम्हारी विस्तृति की जो पुण्य प्रकाशिका शांतिमयी नीति है उसी से हमें शिक्षित करें। और

**मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकम् मा न उक्षन्तमुत मा
न उक्षितम्। मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा
नःप्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥**

हे रुद्र! आप हमारे प्रौढ़ों, बालकों, युवाओं और गर्भस्थ शिशुओं को न मारें, हमारे पिता माता को न मारें और हमारे प्रिय जनों को दंडित न करें।

**मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु अश्वेषु
रीरिषः।**

**मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः हविष्मन्तः सदमित् त्वा
हवामहे॥**

हे रुद्र! हमारे नवजात पाले पोषे बच्चों, बछड़ों और घोड़ों के बच्चों को मत मारो, उनकी आयु को नष्ट मत करो। हमारे जोशीले वीरों को मत मारो, हम लोग आपके दर पर हवि लिए हुए आपको पुकार रहे हैं।

यह रुद्र देवों का प्रथम वैद्य, उपचारक व चिकित्सक भी है। अतः समस्त प्रजा को निरोग स्वस्थ और दीर्घायु रखना भी इसका ही कर्तव्य है। इस कार्य के लिए भी हमें इसका सौमनस्य और तत्परता चाहिए। अतः रुद्र के समक्ष हमें विनम्र रहकर आदर करते हुए हवि प्रदान करके उसकी कृपा प्राप्त करना अनिवार्य है। इसमें उपेक्षा या प्रमाद होने पर हमें रोग अल्पायु दुख भय और मृत्यु की ही प्राप्ति होगी। प्रमाण देखिए –

1– **अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।**

2– **शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।**

यथा नः सर्वमिज्जगत्अयक्ष्मं सुमना असत्॥

3– **या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।**

शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥

सबके सिर पर रुद्र का वज्र लटक रहा है अतः संसार जिस प्रकार भला मानस और महामारी से मुक्त रहें उसके लिए कल्याणकारिणी वाणी से रुद्र से भली प्रकार संवाद करें।

रुद्र परमात्मा का एक गुणवाची नाम है। वही रुद्रत्व का उत्स है। वहीं से निकल कर वह रुद्रत्व विश्व भर में संक्रमित होता है और परिणाम स्वरूप एक रुद्र से अनेक रुद्र अनेक रूपों में उत्पन्न हो जाते हैं और कार्यरत होते हैं। इन रुद्रों के पास धनुषवाण, वज्र और हेतियां अर्थात् प्रहार करने के साधन होते हैं, अस्त्र शस्त्र सभी होते हैं। परन्तु सबके भिन्न भिन्न

प्रकार के होते हैं। जिन रुद्रों का रुद्रत्व मनुष्यों और उपयोगी पशुओं आदि के लिए कल्याणकारी है उन्हें हम मित्र रुद्र कहते हैं और जो जीवन के लिए घातक हैं उन्हें शत्रु रुद्र कहा जाता है।

ये रुद्र नाना प्रकार के और असंख्य हैं और इनके रूलाने वाले साधन भी असंख्य हैं। कुछ रुद्र दिविचर हैं, कुछ अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर विचरने वाले हैं। वर्षा, वायु, जल और अन्न औषधियां आदि इनके वाण हैं। रुद्रों में कुछ स्थूलकाय हैं, कुछ सूक्ष्मकाय हैं। इन सब रुद्रों की पहचान यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में वर्णित है।

प्रजा की रक्षा करने और चिकित्सा करने वाले रुद्रों का प्रजापीडक और मारक रुद्रों के साथ द्वन्द्व युद्ध चलता ही रहता है। इसके लिए आवश्यक और अनिवार्य है कि हमारे मित्र रुद्र सबल, सशक्त, सचेत और रण कुशल हों। शत्रु का दमन दलन और नाश करने में समर्थ हों। वहीं यह भी आवश्यक है कि वह हमारे हितैषी, निर्लोभ, कर्तव्यनिष्ठ और कृपालु हों, वे कभी हम पर कुपित न हों और यदि कुपित हों तो हमारे हित के लिए ही हों।

समाज और राष्ट्र में प्रजा की रक्षा के लिए जिन रुद्रों की आवश्यकता होती है वे हैं न्यायाधीश, पुलिस, प्रशासन, सेना, प्रहरीगण, चिकित्सक और चिकित्सा विभाग के कर्मचारी और मुख्य शासकगण हैं। जिन रुद्रों से इन्हें लड़ना है, वे हैं अन्यायी, अत्याचारी, चोर, डाकू, आक्रांता, पर्यावरणप्रदूषक, ठग, तस्कर, जीवन नाशक पदार्थों के उत्पादक व विक्रेता, संग्रहखोर, मुनाफाखोर, मुफ्तखोर, झूठे, व्यभिचारी, हिंसक जहरीले प्राणी, आन्धी-तूफान, बाढ़, ओले, हिमपात, अकाल और महामारी आदि।

उक्त सभी प्रजा को रूलाने वाले रुद्र हैं। इन रूलाने वाले रुद्रों को रूलाने में जो सक्षम और समर्थ हैं, हमें उन रुद्रों की कृपा और सौमनस्य चाहिए। यदि हमारे मित्र रुद्रों की ही नीयत बिगड़ जाए, वे प्रतिज्ञाविमुख, असत्यपरायण, लोभग्रस्त, कर्तव्यविमुख और चरित्रहीन हो जाएं तो फिर प्रजा को दोतरफ़ी मार झेलनी पड़ती है। उसे कोई बचाने वाला नहीं होता।

वर्तमान में हमारे समाज और राष्ट्र में यही विडम्बना है। हमारी व्यवस्था में नियुक्त रुद्रों ने अपने व्रत का परित्याग करके प्रजा पीड़न और शोषण का मार्ग चुन

लिया है। दूसरी ओर प्रजा ने भी अपने आहार-विहार और व्यवहार को ऐसा बना लिया है जो कि किसी तरह से भी मानवीय नहीं है। ऐसी स्थिति में रुद्र की विनाशकारी सेना का आक्रमण होगा ही। यजुर्वेद में महामारी के असंख्य विषाणुओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

- 1—असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।
- 2—अस्मिन् महत्यर्णवे अन्तरिक्षे भवा अधि।
- 3—नीलग्रीवा शितिकण्ठा दिवं रुद्रा उपश्रिता।
- 4—नीलग्रीवा शितिकण्ठाशर्वा अधः क्षमाचरा।
- 5—ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिवतो जनान्।
- 6—य एतावन्तश्च भूयसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे।

अर्थात् बहुत मात्रा में असंख्य रुद्र भूमि के ऊपर विचरते हैं। इस महान् अन्तरिक्ष और समुद्र में असंख्य रुद्र फैल रहे हैं, द्यौलोक में भी नीली गर्दन वाले और तीक्ष्ण आवाज में बोलने वाले रुद्र विद्यमान हैं, ऐसे ही पृथ्वी के भीतर समाए हुए असंख्य रुद्र हैं। तुम्हारे जल में जो तुम पीने और स्नान करने में काम में लेते हो उनमें रुद्र समाए हुए हैं। ऐसे भी रुद्र हैं जो तुम्हारे अन्न पानी रखने के पात्रों में चिपक रहे हैं। जितने कह दिए उनसे भी अधिक रुद्र दिशाओं में फैले हुए हैं। इन रुद्रों का भोजन मनुष्य खा गए अतः अब ये मनुष्यों को ही खाएंगे। महामारी का आना तो तय है क्योंकि मनुष्य ने ही उसे निमंत्रण देकर बुलाया है। जब मनुष्य फल और अन्न छोड़कर गाय, भैंस, घोड़े, गधे, कुत्ते, बिल्ली, सूअर, मुर्गे, मछली, अंडे, चमगादड़, चूहे, कीड़े—मकोड़े आदि अभक्ष्य खाएंगे, अपेय पिएंगे तो रुद्रों के प्रकोप से बच नहीं पाएंगे, सर्वनाश ही होगा। मनुष्यों की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने और कायम रखने वाले रुद्र इन रुद्रों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाएंगे। अच्छा होगा यदि मनुष्य सुधर जाएं।

स्वच्छंद यौनाचार विषाणु के संक्रमण का प्रभूत सहयोगी होता है क्योंकि लार, थूक, वीर्य और मूत्र संक्रमण के सशक्त माध्यम हैं। जैसे अभक्ष्य भोजन और अपेय पदार्थ हमें रुग्ण करते हैं उसी प्रकार अगम्य समागम भी रोगोत्पत्ति करते हैं। विषाणु से बचने का मुख्य साधन है मनुष्य की रोग प्रतिरोधी क्षमता को विकसित और सुदृढ़ करना। आयुर्वेद का यही कार्य है। आयुर्वेद में उन विषाणुओं की भी चर्चा है जो हमारे मनस् तत्व को दूषित करके उपद्रव खड़े करते हैं।

आयुर्वेद का मानस उन्माद प्रकरण और बालकों की ग्रह ग्रस्तता प्रकरण इस पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इसे अब तक ठीक ठीक समझा नहीं जा सका। यजुर्वेद का यह सोलहवां अध्याय बीज रूप से विषाणु और जीवाणु के द्वंद्व का ही वर्णन करता है, इस पर गम्भीर अनुसंधान होना चाहिए। इस अध्याय में नमः शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है, नमः के तीन अर्थ हैं एक आदर देना विनम्रता पूर्वक सत्कार करना, दूसरा अन्नादि देकर पोषण करना और तीसरा दंडित करना। प्रकरण के अनुसार कथित रुद्रों को इन्हीं तीन उपायों से नियंत्रित किया जा सकता है। वैदिक संस्कृति में शौच अर्थात् पवित्रता का नियम पालन करना ही रुद्रों के पीड़न से बचने का उपाय है अर्थात् आहार विहार और व्यवहार की शुद्धता।

वर्तमान में संक्रमित महामारी तो विश्व के मुनाफाखोरों की देन है और इसे उनके क्रीत राजनीति बाजों ने योजनाबद्ध ढंग से सभी देशों में फैलाया है। इसके द्वारा उत्पादन के साधनों को कौड़ियों के भाव हथियाने का और निर्धनों निर्बलों को पराधीन करके शोषण करने का उद्देश्य है। इसके लिए सबको मिलकर संघर्ष करना होगा। मरना ही है तो वायरस और भूख से मरने की बजाए लड़कर अपना स्वत्व बचाते हुए मरना ही ठीक रहेगा। लड़ोगे नहीं तो कुत्ते की मौत ही मरोगे। इसलिए उठो जागो और मिलकर संघर्ष करो, दुराचारी दनुजों को पहचान कर उन्हें नष्ट करो, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

संसार के श्रेष्ठ पुरुषों एक हो।

— वेदप्रिय शास्त्री

**काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति
धीमताम्।**

व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

विद्वान् और सज्जन व्यक्तियों का समय शास्त्रों की रसप्रद र्चचा विनोद में व्यतीत होता है, जबकि मूर्खों का समय व्यसन में, निद्रा में और दूसरों से झगडा करने में व्यतीत होता है।

आर्ष क्रान्ति के सुधी पाठकों से

समाज सुधार, संस्कृति उन्नयन और धर्म जिज्ञासा क्षेत्र की अनेक पत्रिकाएं सोशल मीडिया पर आपने देखी और पढ़ी होगी। आर्ष क्रान्ति पत्रिका का तेवर और स्वरूप कैसा है इसे जानने की जिज्ञासा आपके मन में पैदा होती है, तो यह समझना चाहिए आप एक विचारवान और जिज्ञासु किस्म के बुद्धिमान व्यक्ति हैं। हमें आप जैसे क्रान्तिकारी और प्रगति गामी विचारवान व्यक्ति का साथ चाहिए। फिर देर किस बात की। नीचे लिंक पर जाइए और फार्म भर कर हमें भेज दीजिए। अब आप जुड़ गए हैं ऐसी संस्था और पत्रिका से जो एक आदर्श समाज, उन्नतशील संस्कृति और मानव मूल्यों के धर्म की स्थापना के लिए कृतसंकल्प है। आप एक शुभ संकल्पवान व्यक्ति हैं और यह पत्रिका भी शुभ संकल्पों को मूर्त रूप देना चाहती है, एक आदर्श समाज निर्माण में हमारी संस्था और पत्रिका से जुड़कर आप अपना अमूल्य योगदान दे सकते हैं। आपका हमें इंतजार रहेगा।

**इस लिंक पर क्लिक करके यह फार्म
अवश्य भरें**

<http://bit.ly/aarshkranti>

**नोट – फॉर्म को भरने के लिए अपने मोबाइल /
कंप्यूटर में इन्टरनेट अवश्य चालू रखे**

मानसिक विकृति, कुविचार, जन्मगत जाति अहंकार और रूढ़ियों के बदलाव का समय

— अखिलेश आर्येन्द्र

विश्व मानव समाज के पतन के कारणों में मानसिक विकृतियाँ, पाखंड, अंधविश्वास, जन्मगत जाति अहंकार और रूढ़ियों का प्रमुख स्थान रहा है। आधुनिक विज्ञान के बढ़ते कदम के बाद भी विज्ञान के पैरोकार और विज्ञान के स्वाध्याय करने वाले लोग भी अनेक तरह के अंधविश्वास और पाखंडों, रूढ़ियों और जन्मगत जाति अहंकार से ग्रसित देखे जाते हैं। पिछले 2000 वर्षों में भारतवर्ष के सामाजिक पतन का एक प्रमुख कारण धर्म के नाम पर जटिल और पाखंड से युक्त कर्मकांड और तथाकथित जाति के नाम पर अंधविश्वासों, पाखंडों, गंदी प्रथाओं, रूढ़ियों और मानसिक रूप से विकलांगता को प्राप्त लोगों के द्वारा समाज को गुमराह करना और समाज को अपराधी बनाने की प्रवृत्ति के ध्वजा वाहक तथाकथित उच्च कहे जाने वाले लोग रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति में भूत-प्रेत, शाकिनी-डंकिनी, कुप्रथाओं, अंधविश्वासों और पाखंडों का काफी कुछ उन्मूलन हो चुका है। लेकिन पूरी तरह से नहीं। वहाँ खुलापन इतना अधिक है कि मानवीय मर्यादा प्रतिक्षण समाप्त की जाती हैं। विज्ञान ने मनुष्य को सुख देने वाले संसाधन जरूर प्रदान किए हैं। घंटों का काम मिनटों में करने वाले यंत्र जरूर प्रदान किए हैं। रोगों को समाप्त करने वाले यंत्र जरूर बनाए हैं। औषधियाँ जरूर बनाईं, लेकिन इससे मनुष्यता में जो जागरूकता आनी चाहिए वह नहीं आ पाई। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। उन कारणों में प्रमुख कारण मनुष्य द्वारा विज्ञान का दुरुपयोग, धर्म का दुरुपयोग, अध्यात्म का दुरुपयोग और संसाधनों का दुरुपयोग है।

भारत में पिछले 2000 वर्षों में धर्म और अध्यात्म के नाम पर अनेक मत मतान्तर प्रचलित हुए। मत मतान्तरों के कारण समाज में अनेक सम्प्रदाय और समूह पैदा हुए। जिससे समाज विभिन्न सम्प्रदायों मत मतान्तरों और समूह में बट गये समाज में धन के आधार पर मत और विचार के आधार पर मान्यता और पाखंडों के आधार पर और लोक में प्रचलित मान्यताओं के आधार

पर अनेक विचारधाराएं प्रचलित हो गईं। विभिन्न विचार धाराओं के कारण भारतीय हिंदू समाज अनेक वर्गों, जातियों, समूहों, सम्प्रदायों और मत मतान्तरों में विभक्त हो गया। इसका परिणाम यह हुआ, भारतीय समाज पथभ्रष्ट ही नहीं हुआ बल्कि संस्कृति, धर्म और सदभावना से भी भ्रष्ट हो गया। पथभ्रष्टता को बढ़ाने में पुराणों का योगदान, पौराणिकों का योगदान, पुरोहितों का योगदान, कर्मकांड कराने वालों का योगदान, प्रवचन कार्यकर्ताओं का योगदान और लाल पीले कपड़े पहन कर समाज को गुमराह करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले तथाकथित बाबाओं का योगदान प्रमुख रहा है। नवजागरण काल में समाज में प्रचलित अंधविश्वासों, पाखंडी, रूढ़ियों, कुप्रथाओं, बुराइयों और कुप्रवृत्तियों को समाप्त कर एक आदर्श धर्म सम्मत समाज बनाने के लिए महर्षि दयानन्द ने अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया था। आर्य समाज की स्थापना के साथ उन्होंने वह सब कुछ किया जो उस समय एक आदर्श समाज के निर्माण के लिए आवश्यक था। लेकिन समाज के पंडों, तथाकथित ब्राह्मणों, तथाकथित पंडितों और निहित स्वार्थ में अंधे हिंदू समाज को पथभ्रष्ट करने वाले ब्रिटिश शासन के ईसाई और महर्षि के विरोधियों ने मिलकर महर्षि को समाप्त करने के लिए अपना सारा बल लगा दिया था, शक्ति लगा दी थी।

महर्षि के तिरोधन के बाद आर्य समाज ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वस्थ समाज के निर्माण में अनेक कार्य किए। शिक्षा, संस्कृति, धर्म, साहित्य, दर्शन और लोक संस्कृति की स्वस्थ परम्पराओं को स्थापित करने में आर्य समाज का योगदान स्वर्णिम अक्षरों में आज भी अंकित है। लेकिन राजसत्ता कांग्रेस के हाथ में होने के कारण आर्य समाज या महर्षि दयानन्द से प्रेरित स्वतंत्रता के महान नायकों के द्वारा ली गई स्वतंत्रता को कांग्रेस ने पूरी तरह से भुनाया। आर्य समाज में उस समय कोई दिशा-देने वाला नहीं था जिससे सत्ता प्राप्ति की बागडोर अपने हाथ में लेकर भारतवर्ष को उसके गौरव

को प्राप्ति के लिए अपना सर्वोच्च योगदान प्रदान कर पाता। कांग्रेस ने अपने साठ वर्षों के शासन में भारतवर्ष का हर तरह से शोषण किया। भारत की वैसी उन्नति नहीं हो सकी जिसका अधिकारी रहा है। भारतीय समाज को वर्गों में विभाजित कर राज्य सत्ता को बनाए रखने के लिए कांग्रेस ने जाति और धर्म के नाम पर राजनीति करके भारतीय आदर्श समाज के निर्माण को बहुत पीछे धकेल दिया। कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य राज्य संस्थाओं ने भारतीय समाज के निर्माण के लिए ऐसा कुछ नहीं किया जिससे भारतीय समाज में वैज्ञानिकता, तार्किकता, समरसता, सौहार्दपूर्ण व्यवहार समाज में बढ़ता तथा कर्म की महत्ता और पाखंडवाद, अंधविश्वास का उन्मूलन होता। स्वतंत्रता के बाद आर्य समाज ने अपने को एक दायरे में समेट कर संकुचित कर लिया। हवन और भजन आर्य समाज के क्रिया गतिविधियों का अंग बन गया। जो आर्य समाज पूरे भारतीय समाज का नेतृत्व कर सकता था, वह आर्य समाज कुछ तथाकथित समाजवादी व राष्ट्र सेवी संस्थाओं का पिछलग्गू बन गया। आर्य समाज उच्च व मध्यम वर्ग तक सीमित रह गया। जो हवन, यज्ञ, भजन के द्वारा लोगों की मुक्ति चाहता था। समाज का सर्वोच्च वर्ग, उच्च मध्यम और निम्न वर्ग से आर्य समाज पूरी तरह से दूर हट गया। जिन लोगों ने आर्यसमाज का नेतृत्व किया उन्होंने अपनी क्षमता के अनुसार इसे दिशा देने की कोशिश तो की, लेकिन पौराणिक धरातल से और समाज में घुसे घुसपैठियों ने उनके नेतृत्व और आदेशों का कभी भी पालन नहीं किया। यही कारण है आर्य समाज में किसी भी क्षेत्र में एकरूपता का अभाव दिखता है। यह अत्यंत संवेदना और विचार का प्रश्न है। समय के अनुसार आर्य समाज ने समाज की धड़कन को पकड़ने की कोशिश नहीं की।

आज भारतवर्ष की पहचान विकासशील देश के रूप में है लेकिन भारतीय समाज की पहचान अविकसित समाज के रूप में है। जहाँ न संगठन है, न कोई स्वस्थ सोच है और न तो कोई ठोस उद्देश्य है। यह हिंदू समाज के लिए अधिक ठीक बैठता है। आर्य समाज में जैसे ही स्वार्थ वादी प्रवृत्तियों का बोलबाला हो गया है जैसे कि पौराणिक समाज में। आर्य समाज की पहचान एक विवाह करने वाली या हवन यज्ञ करने वाली संस्था के रूप में ही पूरे भारतवर्ष में है। हां, आर्य समाज ने

कुछ पूंजीपतियों को जरूर प्रतिष्ठा दिया है जिससे सोशल मीडिया और अन्य क्षेत्रों में कुछ कार्य हुए हैं। लेकिन समाज के प्रत्येक वर्ग से आर्य समाज बिल्कुल ही दूर है। जो आर्य समाज करोड़ों के बीच में पाखंड, अंधविश्वास, बुराइयां, कुप्रवृत्तियों आदि के विरुद्ध डंका बजाता था वह लाखों की संख्या में अपने डंका नहीं बचा पा रहा है। जन्मगत जाति-व्यवस्था, मूर्तिपूजा, अंधविश्वास, पाखंड, कुरीतियों, रूढ़ियों और बुराइयों को समाप्त करने का आर्य समाज का जो प्रमुख उद्देश्य था वह उद्देश्य ही कहीं चर्चा में नहीं है। छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति आगे बढ़ रही है, जैसी की समाज में बढ़ रही है, आर्य समाज से संबंध लोगों को इस पर विचार जरूर करना चाहिए। सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्धत रहना चाहिए। इसलिए जो समाज और आर्य समाज जिस रूप में है उस रूप को भी लोगों के सामने रखकर उसी स्थिति पर सोचने के लिए मैंने कुछ कड़वी बातें इस लेख में लिखा है। हो सकता है, कुछ लोगों को पसंद न आए, लेकिन जो महर्षि दयानन्द के सच्चे भक्त और आर्य समाज के हितेषी हैं वह मेरी बात को शत-प्रतिशत सही मानेंगे और आर्य समाज को गति देने के लिए भारतीय समाज के स्वस्थ परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए, वैदिक समाज व्यवस्था के निर्माण के लिए मेरी बातों को समर्थन करके स्वयं को समर्पित करेंगे।

कोरोना महामारी के इस दौर में आर्य समाज की कुछ संस्थाएं बहुत ही अच्छा कार्य सेवाभावी कार्य से लगी हुई है। वह धन्यवाद के पात्र हैं। परमात्मा उन्हें ओर भी ऊर्जा और शक्ति प्रदान करे। कोरोना खत्म होने के बाद आर्य समाज को अपने सर्वोच्च नेतृत्व में—ऐसा नेतृत्व जो सभी वादों, प्रतिवादों से ऊपर उठा हुआ हो, जो पद लोलुप न हो, महर्षि दयानन्द का सच्चा भक्त हो, उसके नेतृत्व में आर्य समाज को देश और समाज को बचाने के लिए, वैदिक संस्कृति के उन्नयन के लिए कार्य करना चाहिए। हम इस बात को जानते हैं कि समय बहुत तेजी से बदला है पिछले 30 वर्षों में भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण, निजीकरण और बाजारीकरण के इस दौर में आर्य समाज के सामने अन्य दूसरी भी चुनौतियां हैं, अनेक समस्याएं हैं, अनेक तरह के नये पाखंड हैं, अनेक अंधविश्वास हैं, अनेक तरह की कुरीतियां हैं, अनेक संकट और समस्याएं हैं, उनको समग्रता से

निष्पक्षता के साथ मन की आंखों से देखते हुए मन, वाणी और कर्म से उनके समाधान के लिए, आर्य समाज के हितैषी लोगों को आगे आना ही होगा। यदि आर्य समाज को इतिहास का पृष्ठ नहीं बनना है तो भी, अपनी क्षमता के अनुसार ठोस उद्देश्य लेकर आगे बढ़ना ही होगा। यह कार्य बहुत कठिन है। कौन नेतृत्व करेगा? किसके नेतृत्व में आर्य समाज आगे बढ़ेगा, सबसे जटिल प्रश्न है! क्योंकि महर्षि दयानन्द और आर्य समाज के मूल उद्देश्यों से जुड़े हुए लोग हट चुके हैं। जो आज सर्वोच्च पदों पर काबिज है, जन्मगत-जाति व्यवस्था, क्षेत्रवाद, जातिवाद, स्वार्थवाद और अनेकवादों में उलझ कर अनेक आर्यसमाजी भाई आर्य समाज की छवि को धूमिल कर रहे हैं। इससे ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम अतीत का गुणगान गाते-गाते वर्तमान के अपने कर्तव्यों से भी बहुत पीछे हट चुके हैं। और जिस आंदोलन या समाज का वर्तमान साफ नहीं होता है उसका भविष्य स्वर्णिम नहीं होता है। मैं किसी की आलोचना, निंदा, समालोचना करने में विश्वास नहीं करता हूँ, लेकिन आंख मूंदकर एक कलम का सिपाही होने के कारण बैठे रह भी नहीं सकता हूँ। मेरा कर्तव्य है समसामयिक रूप से निष्पक्ष होकर लोगों को आइना दिखाना और आर्यसमाज के वर्तमान को समझा कर के लोगों को अपने कर्तव्यों का ध्यान दिलाना। मैं सभी आर्य जगत् के लेखकों, साहित्यकारों, पत्रकारों से भी कहना चाहूँगा, वह किसी का पिछलग्गू न बनें। वेद, महर्षि दयानन्द, आर्य समाज उनका आदर्श है। किसी वर्ग, गुट, पार्टी आदि के पीछे न पड़े। एक कलमकार का कर्तव्य है सच को बिना किसी लाग लपेट के कहना, लिखना और बोलना। मुझे विश्वास है मेरे इस लेख को पढ़कर पवित्र अंतरात्मा के व्यक्ति, महर्षि दयानन्द के सच्चे भक्त, आर्य समाज के हितैषी अपने सभी आपसी मनमुटाव द्वेष, ईर्ष्याओं को भूलकर आर्य समाज के उद्देश्यों के लिए कटिबद्ध होंगे और पूरे भारतीय समाज को एक नई दिशा में ले जाने के लिए स्वयं को समर्पित कर देंगे।

पवित्रवन्तः पवि वाचमासते। (ऋग. १.७३.३)

पवित्रता के इच्छुक वेद-ज्ञान का सहाय ले।

अब तक आ न सके

मौजूद थे तुम दिल के अंदर, हम ज्ञान की ज्योति
जगा न सके।

जाहिर थे जर्ने- जर्ने में, पर दर्श तुम्हारा पा न
सके॥१॥

हम पास भी रहकर दूर रहे, काबिल थे कहां तेरे दर
के।

तुम करुणा पे करुणा करते रहे, हम फर्ज भी अपना
निश्चा न सके॥२॥

मालूम था ये तेरे दर से, कोई भी खाली नहीं जाता।
मजबूरी किस्मत की कहिए, जो दर पे तुम्हारे आ न
सके॥३॥

करते ही रहे हम पर तुम तो, निशि- दिन अनगिन
उपकार प्रभो,
अहसान फरामोशीअपनी, जो गुण भी तुम्हारे गा न
सके॥४॥

हे जग के रक्षक जगदीश्वर, हम तेरी शरण तो आए
हैं,
हो शान के तेरी काबिल जो, वह भेंट मगर हम ला
न सके ॥५॥

“वेदप्रिय” ऐसे राही हम, अब तक भी जो गुमराह
ही हैं,

जिस राह से मंजिल मिलती है, उस राह पे अब तक
आ न सके॥६॥

— वेदप्रिय शास्त्री

FIRST ASHRAMA: BRAHMCHARYA

— 📖 Dr. Roop Chandra 'Deepak'
Lucknow (U.P.)
Mob. 9839181690

To make a man perfect, the Vedic Culture divided man's life span into four stages. These stages were named as Four Ashramas. Of these four, the First Ashrama was named as Brahmcharya.

The word 'brahm' carries two meanings. The Para'Brahm' means God. The shabd'brahm' means Veda. In the Four Ashramas 'brahmcharya' means self-restraint or self-control. God and Vedas are related with all Ashramas and not specific with the First Ashrama. Then why the name 'Brahmcharya'?

Self-control means control over the desire of lust or over the feeling of sex. So a good name could have been 'kamajaya' or something like this. But our great Rishis thought that even the words like lust, sex or kama could damage a man's thought-process. Therefore the name should also be calm and pious. Hence is the name 'brahmcharya'.

Vedic Culture is very sensitive over the observance of brahmcharya. It has reasons. The strongest reason is that a mistake committed against it cannot be corrected. Suppose a Treasurer of Arya Samaj makes a mistake in calculating the amount of money received or spent. In

next meeting he apologises and rectifies his mistake. He will be pardoned and things will go as if nothing happened.

In another case a friend begs your scooter, uses it and punctures the tyre. You are sad to receive the scooter and he too is sorry. He begs your pardon, behaves responsibly and changes the tyre for new. His mistake is rectified and nothing bad remains for future.

However, this is not the case with brahmcharya. A mistake made here cannot be rectified. Suppose a man wrongly touches somebody; another man wrongly stares at somebody; still another speaks evil to somebody. Then all of them beg their pardons. But what to forget or to be forgiven? The touched cannot be untouched nor the others unstared or unspoken to. A mistake in this regard is not rectifiable. It is a guilt. We must remain sincere, mentally alert and complying with perfectly.

'मातृवत् परदारेषु' is the slogan of Vedic Culture to maintain the pious and perfect discipline in the field of brahmcharya. This slogan has ever been in mind of all people of all the Four Ashramas. The Brahmcharis, Vanaprasthis and Samnyasins had to follow it for all

women. The Grihasthis had also to follow it for all but one and only one.

Brahmcharya was not for 25 years out of 100 all years. Rather, it was for 75 years of First, Third and Fourth Ashramas. Only Grihastha Ashrama had 25 yrs of controlled indulgence. Thus brahmcharya is the most precious conduct of a person under Vedic System so much so that the other Systems are much poorer in this respect.

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात्संजायते कामः । (Gita:2-62)

If a man keeps his mind on the objects of senses, it develops in him an affection for them, and this affection gives birth to kama or desire or lust. So the Vedic Rishis preach us to keep the mind on Parabrahm and in the shabdbrahm, so as to avoid any invitation to kama or desire or lust.

Observance of brahmcharya is difficult and very difficult. But the Vedic discipline keeps man mentally focused on God and engaged in Veda. This was the philosophy behind the nomenclature of brahmcharya. There are dozens of concrete routines to simplify and make the observance possible. They are to rise early in the morning, to do physical exercises & pranayama, to do sandhya & havan twice daily, to eat light & less, to remain in the company of scholars, and the like.

Why is brahmcharya given so much importance in Vedic Culture? In other

traditions there is mention of celibacy, meaning no-marriage or at most no physical contact of that nature. Brahmcharya means much more chastity than this as it refrains from even thinking of such contact. A person's celibacy can be proved or disproved physically. But brahmcharya is both physical and mental. Let us say it is more mental than physical.

Vedic Culture has a fourfold goal for man. These four goals are dharma, artha, kama & moksha. In fact, these four culminate at moksha. Brahmcharya is much more essential for moksha. The Yog Darshan lays down an eight-step road to samadhi, a position near to moksha. Of these eight steps, the first is yama, a group of five qualities including brahmcharya. Thus brahmcharya is essential to attain moksha. Hence brahmcharya is given a high importance in Vedic Culture.

Whatever a man eats, that goes into a process to first make blood and at last the vital fluid known as virya or semen. This fluid is a guarantee of physical strength and mental power as well. Vedic System of life has made long researches on this fluid and drafted strong lessons for its safety. Keeping it safe and maintaining it within oneself is the practical meaning of brahmcharya.

Shankaracharya has composed a Prashnottari or Question–Answer sequence on vital issues. Five items from

the same are given below:-

1. What is the first gate to hell?

It is 'woman'; he means it is kama or lust.

2. Who is most blind?

He who is indulged in sex.

3. Who is bravest?

Not defeated by kama or lust.

4. Who is most seasoned?

Not cheated by fairer sex.

5. What is most difficult to conquer?

The kama or lust.

Thus he looks very clear that kama or lust is the biggest evil and brahmcharya is the greatest virtue or strength of man. His Answers clarify as to why Vedic Culture has given so much importance to brahmcharya.

Acharya Chanakya says- 'नास्ति कामसमो व्याधिः' meaning that kama or lust is the biggest disease. One can understand how? This disease is quickest to catch and its remedy again becomes the same disease. The Acharya again counts roots of several things. There too he counts dharma as the root of happiness, wealth as the root of dharma, nation as the root of wealth and the root of nation is self-restraint or brahmcharya. Thus anyone would see that all Acharyas of Vedic Culture hold the view that brahmcharya is the key to build the life of a man.

The vital fluid when enters the womb of a woman, then a new baby is conceived. Therefore the fluid must be ripened and perfect so as to cause a perfect conception. The Ayurveda fixes the age

of 25 years in case of the boy and 16 years in case of the girl when they deserve to be new parents.

Some minimum age is specified to all animals to parent new babies. Upto that age they are required to hold their fluid intact. The animals protect their fluid only physically and are not termed as brahmcharis. The human beings protect it both physically and mentally and are therefore termed as brahmcharis. Every boy must be a brahmchari at least upto the age of 25 years and so every girl upto the age of 16 years. For both of them it is their Brahmcharya Ashrama.

*ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप।
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति।*

(व्यवहारभानुः)

Bhishma the Great says to Yudhishtira - 'O dear king, there is no human quality that remains beyond reach of the man who is a lifelong Brahmchari.

This is why the Vedic Culture has formulated a Brahmcharya Ashrama for every man at least upto the age of 25 years. With quite certainty this Ashrama System is for a perfect individual life inside the great Vedic Culture.*****

जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट-शुष्ट हो जाता है।

- सत्यार्थ प्रकाश (छठा समुल्लास)

प्रभु भक्त संसार-महासागर से तर जाते हैं

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।

तरत् स मन्दी धावति ॥

— ऋग० ६/५८/१ ; साम० पू० ६/१/२/४

ऋषिः — वत्सारः ॥ देवता — पवमानः सोमः ॥

छन्दः— निचृद्गायत्री ॥

विनय — हे दुःख और पाप से तरना चाहनेवाले भाइयो। देखो, कोई हैं, जोकि तर गये हैं। इस दुस्तर दीखनेवाले संसार-महासागर से तरा जा सकता है—सचमुच तरा जा सकता है, परन्तु तरता वह है जो “मन्दी” है। क्यास तुम भगवान् की भक्ति-स्तुति में रमनेवाले हो? क्या इस भजनरस से तुम्हारा अन्तःकरण तृप्त हो गया है? क्या, तुम्हारा अपना आन्तर (अन्तः) आनन्द से परिपूर्ण हो गया है, अर्थात् तृप्त होकर तुम्हें अब संसार की अन्य किसी वस्तु की—किसी भी वस्तु की कामना नहीं रही है? क्यास तुम ऐसे मस्त हो गये हो ? ऐसे आत्माराम हो गये हो? “मन्दी” होने के लक्षण तो ये ही हैं। देखो, ऐसे “मन्दी” तरते जा रहे हैं और तर गये हैं।

यह अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? जब भजन करने से अन्दर सोई पड़ी हई शक्ति जागती है तो वह प्राण, वाणी और मन को उज्जीवित करती हुई ऊपर की ओर चढ़ने लगती है। हठ-योगियों की परिभाषा में इसे कुण्डलिनी का जागरण और प्राणोत्थान कहते हैं। इस कुण्डलिनी का वास्तविक जागरण ही ‘तरना’ शुरू करना है। प्राण की धारा मूलाधार से उठकर ऊपर चढ़ने लगती है, हैमवती शक्ति नाचती-कूदती हुई, भजन-स्तुति करती हुई मार्ग में प्राण, वाणी, मन के अद्भुत चमत्कार दिखाती हुई ऊपर, अपने शिवरूप स्वामी की ओर चढ़ने लगती है। यह आध्यान अर्थात् मानसिक चेतना से युक्त प्राणधारा के रूप में क्रमशः

ऊपर जाती हुई अनुभूत होती है। यही उत्पन्न किये “अन्धस्” (सोम) की धारा है जिसके साथ-साथ आत्मा ऊँचा होता जाता है। इसी धारा के साथ ‘मन्दी’ नामक भक्त की ऊर्ध्वगति होती है। प्रसिद्ध सात लोक अन्दर ही हैं। उन्नत होता हुआ आत्मा इन सब लोकों को पार करता हुआ सत्यलोक में पहुँचकर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है — बिल्कुल पार उतर जाता है। प्राण, वाणी, मन आदि शक्तियाँ शिर के सत्यलोक में जाकर ठहर जाती हैं और समाधि सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार देखो ! “मन्दी” (भगवान् का भक्त) दुःख-सागर को तर जाता है— ऊपर पहुँच जाता है। अहो ! इस पुण्य घटना का विचार करना— इसे कल्पना की आँखों से देखना— भी कितना ऊँचा उठानेवाला है ! “तरत् स मन्दी धावति”, तरत् स मन्दी धावति ॥”

शब्दार्थ —

मन्दी = जो भक्ति-स्तुति करनेवाला, स्वयं तृप्त, आनन्दमग्न पुरुष होता है।

सः = वह तरत् =तर जाता है, सः = वह

सुतस्य = उत्पन्न की गई

अन्धसः = आध्यानयुक्त व वाणी की

धारया = धारा के साथ

धावति = ऊपर वेग से उठता जाता है।

सः मन्दी = वह आनन्द-तृप्त = तर जाता है,

धावति = ऊर्ध्वगति द्वारा ऊपर चढ़ जाता है।

(**साभार** — वैदिक विनय पुस्तक ,लेखक — आचार्य अभयदेव विद्यालंकार)

क्या वेदों के चार विभाग वेदव्यास ने किए ?

— प्रियांशु श्रेष्ठ
वाङ्मानी (उ.प्र.)

प्रायः वेदों के विषय में इस भ्रांति को प्रचारित किया जाता है कि वेद पहले एक थे और द्वापरान्त उन्हें वेदव्यास द्वारा चार भागों में विभाजित किया गया। इस भ्रांति को आधार बनाकर विधर्मि हमारे पवित्र ग्रन्थ वेदों पर अनुचित आक्षेप करते हैं। जैसे, यदि वेदों का विभाजन मनुष्य द्वारा हुआ तो इससे वेदों की अपौरुषेयता पर प्रश्नचिह्न लगता है। क्या वैदिक ईश्वर का सामर्थ्य अल्प है जो वह वेदों को चार भाग में प्रकाशित न कर सका? इत्यादि। इन आक्षेपों के प्रभाव से धार्मिक जनों की वेदों के प्रति श्रद्धा न्यून हो जाती है। इस आलेख में हम विधर्मियों के आक्षेपों का सप्रमाण और युक्तियुक्त जवाब देकर वेदों की अपौरुषेयता को आलोकित करेंगे।

आर्यावर्तीय मध्यकालीन ग्रन्थकारों की वेदों के विषय में धारणा रही है कि वेद पहले एक था। उसे चार भागों में बांटने वाले भगवान् वेदव्यास थे। यथा —

१. महीधर अपने यजुर्वेदभाष्य के आरम्भ में लिखता है—

**तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो
मन्दमतीन्मनुष्यान्विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान्
पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश।**

अर्थात्— वेदव्यास को ब्रह्मा की परम्परा से वेद मिला और उसने उसके चार विभाग किए।

२. महीधर का पूर्ववर्ती भट्टभास्कर अपने तैत्तिरीय संहिता-भाष्य के आरम्भ में लिखता है —

**पूर्वं भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थमेकीभूयस्थिता
वेदा व्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्नाः।**

अर्थात्— भगवान् व्यास ने एकत्र स्थित वेदों का विभाग करके शाखाएं नियत कीं।

३. भट्टभास्कर से भी बहुत पहले होने वाला आचार्य दुर्ग निरुक्त १/२० की वृत्ति में लिखता है —

**वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद्
दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः, सुखग्रहणाय
व्यासेन समाम्नातवन्तः।**

अर्थात्— वेद पहले एक था, पीछे व्यास रूप में उसकी अनेक शाखाएं समाम्नात हुईं।

४. एक युक्ति यह भी दी जाती है कि व्यास के पूर्वकाल में ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व मन्त्र यद्यपि अस्तित्व में थे, फिर भी वे सारे एक ही वैदिक संहिता में मिलेजुले रूप में अस्तित्व में थे। इसी एकात्मक वैदिक संहिता को चार स्वतन्त्र संहिताओं में विभाजित करने का अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य व्यास ने किया। इस युक्ति के समर्थन में अष्टादशपुराणों से एक श्लोक यह उद्धृत किया जाता है—

ततः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं समकल्पयत्।

— वायु० ६०/१६ एवं ब्रह्माण्ड० २/३४/१६

इसका अर्थ यह है कि व्यास ने ऋग्वेद की ऋचाएं अलग कर, उन्हें 'ऋग्वेद संहिता' के रूप में एकत्र किया।

ईश्वर ने आदिसृष्टि में चार वेदों का प्रकाश किया, ऐसा पवित्र वेद सच्छास्त्रों का सिद्धान्त है। वेद का विभाग किसी मनुष्य ने किया, यह कहना मूर्खता का काम है। स्वयं वेद इस बात की साक्षी है कि सनातनकाल से ही वेद चार भागों में विभक्त थे। यथा—

१. **यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।**

**सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् स्कम्भं
तं ब्रूहि कतमः स्वित् एव सः।**

— अथर्व० १०/७/२०

अर्थ— (यस्मात्) जिस परमेश्वर से ऋषियों ने, (ऋचः) ऋचाओं [ऋग्वेद, को (अपातक्षन्) प्राप्त किया] (यस्मात्) जिस परमेश्वर से (यजुः) यजुर्वेद को (अपाकषन्) प्राप्त किया। (सामानि) सामवेद के मन्त्र (यस्य) जिस परमेश्वर के (लोमानि) लोम सदृश हैं। (अथर्वाङ्गिरसः) अङ्गों के तथा औषधियों के रसों का वर्णन करने वाला अथर्ववेद (मुखम्) जिस का मुखवत् मुख्य है (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः स्वित् एव सः) अतिशय सुखस्वरूप ही है [उस में दुःख का लेश भी नहीं] वह आनन्दरूप है।— पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकारजीकृत भाष्य

वेद के इस प्रमाण के आगे आक्षेपकर्त्ताओं का यह आक्षेप धराशायी हो जाता है कि पहले वेद एक थे। अथर्ववेद के इस मन्त्र से स्पष्ट है कि वेदों का विभाग स्वयं ईश्वर ने किया, न कि किसी मनुष्य ने। वेदमन्त्रों में दी गई शिक्षा सर्वकालों के लिए है; अतः यदि मन्त्रों में बहुवचनान्त 'वेदाः' पद आ जाए तो निश्चय जानना चाहिए कि आदि से ही वेद एक भाग में नहीं थे।

२. **ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः।**

तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छत।।

— अथर्ववेद १६/६/१२

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से वेदाः बहुवचनान्त पद आया है। इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए सायणाचार्य लिखता है— **वेदाः साङ्गाश्चत्वारः** अर्थात् इस मन्त्र में बहुवचनान्त वेद पद से चारों वेदों का अभिप्राय है।

३. **चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे।**

— ऋग्वेद ४/५८/३ एवं यजुर्वेद १७/६१

यास्काचार्य ने 'चत्वारि शृङ्गा' (निरुक्त १३/७) से चार वेदों का ग्रहण किया है।

४. **तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।**

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।

— यजुर्वेद ३१/७

अर्थ — हे मनुष्यो! तुमको चाहिए कि (तस्मात्) उस पूर्ण (यज्ञात्) अत्यन्त पूजनीय (सर्वहुतः) जिसके अर्थ सब लोग समस्त पदार्थों को देते वा समर्पण करते उस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होते (तस्मात्) उस परमात्मा से (छन्दांसि) अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होता और (तस्मात्) उस पुरुष से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न होता है, उसको जानो। — **श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामीकृत भाष्य**

[**नोट**— यजुर्वेद का यह मन्त्र ऋग्वेद (१०/६०/६) में भी आया है तथा ज्यों का त्यों 'छन्दांसि' के स्थान पर 'छन्दो ह' के साथ अथर्ववेद (१६/६/१३) में भी आया है।

जब वेदों में स्पष्ट रूप से चार वेदों का संकेत मिलता है फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि वेद पहले एक थे? इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वेद सनातनकाल से ही चार भागों में चले आये हैं। वस्तुतः भट्टभास्कर, महीधरादि मध्यकालीन ग्रन्थकारों की मान्यता अष्टादशपुराणों से सम्बन्ध रखने वाली है। इनकी मान्यता का मूल स्रोत हमें अष्टादशपुराणों में प्राप्त होता

है। इन मिथ्या ग्रन्थों से ही वेदों के विषय में यह भ्रान्ति फैली है कि वेद पहले एक थे और द्वापरान्त में वेदव्यास ने उसके चार विभाग किये। देखो —

(क) **जातुकर्णो ऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः।**

अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः।।

एको वेदश्चतुर्धा तु यैः कृतो द्वापरादिषु।

— **विष्णुपुराण० ३/३/१६, २०**

(ख) **वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु।**

— **मत्स्यपुराण १४४/११**

अष्टादशपुराणों की यह मान्यता सर्वथा भ्रममूलक है। क्योंकि —

प्रथम, एक ओर तो ये अष्टादशपुराण चतुर्मुख ब्रह्मा के चार मुख से चार वेद प्रकट हुआ मानते हैं (मत्स्य० ५३/२,३, शिवपुराण वायवीय० १/३१, वायु० १/५४, ब्रह्माण्ड० १/१/४०,४१, स्कन्दपुराण अवन्ती० १/२४,२५), तो दूसरी ओर उन्हें एक भी बताकर कहा जा रहा है कि उनके विभाजनकर्त्ता वेदव्यास थे?

द्वितीय, एक ओर अग्निपुराण (२७१/३) में कहा है— **'ऋग्वेदो हि प्रमाणेन स्मृतो द्वैपायनादिभिः।'** अर्थात् श्री कृष्ण द्वैपायनादि महर्षियों ने ऋग्वेद को प्रमाण रूप से स्वीकार किया है। जबकि दूसरी ओर अष्टादशपुराणों में यजुर्वेद को प्राचीन बताया गया है (अग्नि० ६०/१७, १५०/२४, कूर्म० ५२/१६, विष्णु० ३/४/११, ब्रह्माण्ड० ३४/१७)।

तृतीय, स्कन्दपुराण में एक श्लोक आता है, जो सिद्ध करता है कि वेदों का विभाग व्यास ने नहीं किया। यथा —

सामवेदोअहंदेवि ब्रह्माऋग्वेदउच्यते।।६२।।

यजुर्वेदोभवेद्विष्णुः कलाधारोह्यथर्वणः।।६३।।

— स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, अध्याय १०३, पृष्ठ ४२८, मुन्शी नवलकिशोर (सी, आई, ई) छापाखाना, लखनऊ, प्रथम बार, सन् १९१० ई० से प्रकाशित महादेव जी कहते हैं— हे देवी! मैं सामवेद हूँ और ब्रह्मा ऋग्वेद कहे जाते हैं।।६२।। व यजुर्वेद और अथर्वा की कला को धरनेवाले विष्णु जी हैं।।६३।।

[**नोट** — स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड के वर्तमान संस्करणों में यह श्लोक अध्याय १०५ में कर दिए गए हैं।]

चतुर्थ, महाभारत स्पष्ट रूप से चारों वेदों का उल्लेख करते हैं। यथा—

१. **ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः।**

— वनपर्व (अ० १८७, श्लोक १४)

२. यज्ञा वेदाश्च चत्वारः।

— वनपर्व (अ० २१५, श्लोक २२)

३. त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तमथाङ्गतः।

ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा।।

— शान्तिपर्व (अ० २३५, श्लोक १)

४. ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव।

अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव हि।।

— सभापर्व (अ० ११, श्लोक ३२)

क्या महाभारत के कर्ता महर्षि वेदव्यासजी को इतना ज्ञान न था कि एक ओर अपने ग्रन्थ में ऐसा मानते हैं कि सनातन काल से ही वेद चार हैं, तो दूसरी ओर उसका विभाजन भी स्वयं करके अपने वचनों में विरोधाभास प्रकट करेंगे। इससे यह भी सिद्ध है कि अष्टादशपुराण व्यास के बाद की कृति हैं तथा अवैदिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं।

पञ्चम, वाल्मीकि रामायण में वर्णन मिलता है कि श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मण से हनुमानजी को वेदपाठी घोषित करते हुए कहते हैं —

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।

नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्।।

— किष्किन्धाकाण्ड ३/२६

अर्थात् — जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता। — **पाण्डेय पं० रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम' कृत टीका, गीताप्रेस गोरखपुर**

इसके अतिरिक्त रामायण में कई स्थलों पर चारों वेदों का उल्लेख मिलता है। फिर सहस्रों वर्ष के बाद व्यास काल में उनका एक होना और व्यास आदि द्वारा उनका चार विभाग किया जाना किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है?

षष्ठ, अष्टादशपुराणों में वेदों की शाखादि का उल्लेख है। यदि वेदों का विभाग व्यास द्वारा मान लें तो यह बताइये कि व्यास के पूर्व जब वेद एक थे तो उस समय वेदों की शाखाओं का विभाजन कैसे सम्भव हुआ? क्या वेदों की शाखा पहले और वेदों का विभाजन बाद में मानना युक्तियुक्त है?

इससे सिद्ध है कि अष्टादशपुराणों के कर्ता ने अपनी

कपोलकल्पित और खोखली कहानियों का कर्ता व्यासजी को ठहरा दिया। इन अवैदिक ग्रन्थों में परस्पर—विरोधी वचन भरे पड़े हैं; अतः यह ग्रन्थ सर्वथा त्याज्य हैं। हम सिद्ध कर चुके हैं कि वेदों का विभाजन व्यास जी ने नहीं किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में वेदों के विषय में प्रचलित इन्हीं भ्रान्तियों का खण्डन किया है। वह ईश्वर द्वारा चार ऋषियों के हृदय में एक—एक वेद का प्रकाश होना मानते हैं। इसमें वह शतपथब्राह्मण का प्रमाण उद्धृत करते हुए लिखते हैं —

अग्नेर्वा ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः।।

— शतपथ० ११/५/८/३

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक—एक वेद का प्रकाश किया।

[देखो, स०प्र० सप्तमसमुल्लास]

महाराज मनु भी ईश्वर द्वारा वेदों का चार महर्षियों में प्रादुर्भूत होना मानते हैं। यथा —

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।।

— मनु० १/२३

(य) "जिस परमात्मा ने आदिसृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा से ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया।" **[स०प्र० सप्तम०]**

(र) इस श्लोक की टीका में कुल्लूकभट्ट लिखता है— **पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष।**

— चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस, सन १९६२ से प्रकाशित

अर्थात् — जो पूर्वकल्प में थे, वे ही वर्तमान कल्प के आदि में अग्नि आदि ऋषियों से प्रादुर्भूत हुए।

(ल) मनुस्मृति के इस श्लोक पर पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी अपनी टिप्पणी में लिखते हैं —

"अग्नि, वायु और रवि से वेदत्रयी की उत्पत्ति, छान्दोग्य—उपनिषद् में इसी प्रकार है। जैसा— प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्। अग्निं पृथिव्या, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः। स एतास्तिस्त्रो देवता अभ्यतपत्। तासां तप्यमानानां

रसान् प्रावृहत्। अग्नेर्ऋचो, वायोर्यजूषि, साम आदित्यात्। स एतां त्रयीं विद्यां अभ्यतपत्। तस्या तप्यमानाया रसान् प्रावृहत्। भूरिति ऋग्भ्यो, भुवरीति यजुर्भ्यः, स्वरिति सामभ्यः।”

“अग्नि, वायु और रवि से वेदोत्पत्ति होने से ही, ऋग्वेद का पहला मंत्र अग्निस्तुति है। यजु का वायु और साम का सूर्यस्तुति विषय का है।” — मनुस्मृति अर्थात् मानवधर्मशास्त्र, पृष्ठ ६, मुंशी नवलकिशोर सी.आई.ई., के छापेखाने, लखनऊ, सन् १९१७ ई० से प्रकाशित

सायणाचार्य भी स्वीकार करता है कि परमात्मा ने अग्नि आदि ऋषियों द्वारा त्रयीविद्या “वेद” प्रकट किए जीवविशेषैरग्निवाखादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् । ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् (ऐतरे० ब्रा० ५/३२)।।

श्रुतेरीश्वरस्याग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम्।।

— सायणभाष्यभूमिकासंग्रह, पृ० ४

भाषार्थ — अग्नि, वायु, आदित्य विशेष जीवों से वेद के पैदा होने से ऋग्वेद ही अग्नि से पैदा हुआ, यजुर्वेद वायु से, सामवेद आदित्य से, ऐसी श्रुति होने से, ईश्वर ने अग्नि आदि के प्रेरक होने से, ईश्वर से वेदों का निर्माण जानना चाहिए।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि ऋषियों द्वारा परमात्मा ने चार वेद प्रकट किए। ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, सूत्रादि ग्रन्थ सभी एकमत होकर इस सिद्धान्त पर अटल हैं कि वेद ईश्वर द्वारा विभाजित सनातनकाल से ही चार हैं। यथा —

१. एवां वा अरेऽस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः समावेदोऽथर्वाङ्गिरस।

— शतपथब्राह्मण १४/५/४/१०

उसी महान् सत्ता से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद उत्पन्न हुए हैं। [द्रष्टव्य— बृहदारण्यक २/४/१०]

२. त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत। यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्यात्।।

— ऐतरेयब्राह्मण २५/७

३. चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे।

— गोपथ ब्राह्मण १/१६

४. गोपथब्राह्मण ३/१ में चारों वेदों का नाम निर्देश करने पश्चात् चार ऋत्विजों में कौन किस वेद का पण्डित हो, इसका निर्देश करते हुए लिखा है— ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व यजुर्विदमध्वर्युं सामविदमुद्गातरमथर्वाङ्गिरोविदं

ब्रह्माणं। अर्थात् इसलिए ऋग्वेद जानने वाले को ही होता चुन, यजुर्वेद जानने वाले को अध्वर्यु, सामवेद जानने वाले को उद्गाता, और [अथर्वाङ्गिरो] चारों वेद जानने वाले को ब्रह्मा।

५. स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूषि नाम साम ते तनूः। — यजु० १२/४, शतपथब्राह्मण ६/७/२/६, तैत्तिरीय संहिता ४/१/१०/५, शांखायन गृह्यसूत्र १/२२/१६

६. जुहोत्यग्नेये पृथिव्यै ऋग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदाय अथर्ववेदाय। — वैखानस गृह्यसूत्र २/१२

७. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।

— मुण्डक० १/१५

८. ऋग्वेदं भगयोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्।

— छान्दोग्योपनिषद् ७/१२

आयुर्वेद शिरोमणि महर्षि चरक का यह वचन हृदय को आह्लादित कर देने वाला है—

तत्र चेत्यष्टारः स्युः— चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः, किमायुः कस्मादायुर्वेदः, किं चायमायुर्वेदः शाश्वतोऽशाश्वतश्च। कति कानि चास्याङ्गानि, कैश्चयमध्येतव्यः, किमर्थं चेति।।

तत्र भिषजा पृष्टेनैवं

चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे

भक्तिरादेश्या।

(चरकसंहिता, सूत्रस्थानम् ३०/१८, १९)

“यदि कोई पूछे कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में से आयुर्वेदज्ञ किस वेद का उपदेश करते हैं तो वैद्य को उत्तर देना चाहिए कि ऋग्वेदादि चारों वेदों में से अथर्ववेद में आयुर्वेद का उपदेश है।”

उपरोक्त प्रमाणों के आलोक में यह सिद्ध है कि वेद ईश्वर द्वारा सनातनकाल से ही चार भागों में प्रकाशित होते आये हैं। वेदों की अपौरुषेयता को कोई नकार नहीं सकताय अतः आक्षेपकर्ताओं को यह भलीभांति जान लेना चाहिए कि ईश्वरीय वाणी वेद सत्य का आधार है, जिसे पराजित करने के प्रयास से मनुष्य स्वयंमेव पराजय को प्राप्त हो जाता है। *****

पाद टिप्पणियां —

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहासय प्रथम भागय लेखक — पण्डित भगवदत्त बी०ए०।

२. यजुर्वेद का मन्त्र ‘तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे...’, ऋग्वेद (१०/६०/६) में भी आया है

तथा ज्यों का त्यों 'छन्दांसि' के स्थान पर 'छन्दो ह' के साथ अथर्ववेद (१६/६/१३) में भी आया है।

३. स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड के उपरोक्त श्लोक वर्तमान संस्करणों में अध्याय १०५ में कर दिए गए हैं।

४. रामायण से उद्धृत श्लोक पर पाण्डेय पं० रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम' कृत टीका, गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित।

जहां नहीं किरने पहुंचीं है अब तक नवल विहान की।

जहां नहीं आवाजें पहुंचीं किसी विमल यशगान की।

जहां अन्धेरा अड्डहास कर घोर गर्जना करता है।

जहां निरीह जनमानस प्राणी ठंडी आहें भरता है।

जहां विलम्बता है नन्हा शिशु भ्रात-भ्रात चिल्लाता है ।

रुदन देखती है बच्चे का बेबस विचलित माता है।

नंगे-उघरे बदन जहां पर मानवता भी लज्जित है।

भूख पेट की हरने खातिर भक्ष-अभक्ष भी भक्षित है।

मर्यादा का पाठ पढ़ाना उनको नहीं जरूरी है।

इससे पहले रोटी-कपडा उनके लिये जरूरी है।

- ❀ कर्म राज शर्मा
तुकान्त अयोध्या

आर्ष क्रान्ति पत्रिका के लिए

आर्य लेखक बन्धु अपनी

सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ भेंजे।

मानवता है कितनी ब्रस्त

महा व्याधि से जूझ रहा है।
कोई पथ ना सूझ रहा है।
जीवन के इस प्रश्न पत्र की,
कौन पहली बूझ रहा है ?
सारा जग है चिंताग्रस्त॥
मानवता है कितनी ब्रस्त॥

प्राणों पर संकट भारी है।
कोरोना - सी महामारी है।
दवा दुआ कुछ काम न आती,
अपनी - अपनी लाचारी है।
सब की हिम्मत हुई है परत॥
मानवता है कितनी ब्रस्त॥

सब प्रयत्न निष्फल होते हैं।
आंखें सूनी मन रोते हैं।
कौन भला किसको समझाए,
शीशे जैसे दिल होते हैं।
पल में सपने होते ध्वस्त॥
मानवता है कितनी ब्रस्त॥

अपने हैं, अपनों से दूर।
साधन सब, पर हैं मजबूर।
मरघट - सी नीरवता फैली,
फीका है चेहरों का नूर।
सब निष्क्रिय हैं, जो थे व्यस्त॥
मानवता है कितनी ब्रस्त॥

क्या यह विपदा अनायास है ?
या स्वामंत्रित यह विनाश है।
कहां कर्म में खोटा रह गई,
जिसका सबको मिला त्रास है।
चलो करें कुछ बंदोबस्त॥
मानवता है कितनी ब्रस्त॥

- ❀ वेद कुमार दीक्षित
देवास (म.प्र.)

वैदिक संस्कृति के उज्ज्वल आदर्श पुरुष भगवान् राम

- प्राशु आर्य

राम भारतीय संस्कृति के पर्याय हैं, वैदिक संस्कृति के महान स्तंभ हैं। राम वेदज्ञ हैं। राम वेदानुकूल हैं। वेद कहता है **मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्** अर्थात् **मनुष्य बनो और देव प्रजा को जन्म दो।** राम का जीवन वेद की इस पंक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करता है। संसार में जिन गुणों व आदर्शों द्वारा मनुष्य पूजा जाता है व मनुष्य का जीवन विकसित होता है वे सभी गुण भगवान् राम में दृष्टिगोचर होते हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, धैर्यवान हैं, बुद्धिमान हैं, बलवान हैं, नीतिज्ञ हैं, जितेंद्रिय हैं, तेजस्वी हैं, धर्म रक्षक हैं, प्रजा पालक हैं, सत्यवादी हैं, वेद वेदांगों के मर्मज्ञ और धनुर्वेद में निष्णात हैं। इन मानवीय गुणों से युक्त राम का व्यक्तित्व एक आदर्श व्यक्तित्व है। वे एक आदर्श पुत्र हैं, आदर्श पति हैं, आदर्श भाई हैं, आदर्श मित्र हैं व आदर्श राजा हैं।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति का कोई न कोई आदर्श होता है, होना चाहिए। हम अपने जीवन में आदर्श शब्द का प्रयोग बहुलता से करते हैं किन्तु इस शब्द के अर्थ पर प्रायः विद्वज्जनों के अतिरिक्त कम ही लोग विचार कर पाते हैं। **'आदर्श'** शब्द संस्कृत की **'दृश'** धातु में **'आ'** उपसर्ग तथा **घञ् प्रत्यय** लगाने से बनता है जिसका अर्थ होता है **दर्पण, आईना।**

पाठको! दर्पण वह है जिसके सम्मुख रहकर हम स्वयं को संवारते हैं। दर्पण के सम्मुख हम अपने शरीर को संवारते हैं और आदर्श रूपी दर्पण के सम्मुख हम अपनी आत्मा, अपने चरित्र को संवारते हैं। जो मनुष्य अपने इस आदर्श रूपी दर्पण को सम्मुख रखकर स्वयं को संवारते नहीं हैं वे स्वयं अपने जीवन से कभी कोई आदर्श स्थापित नहीं कर पाते। राम हमारे आदर्श हैं अर्थात् राम हमारे लिए वह दर्पण हैं जिसके सम्मुख रहकर हमें अपने चरित्र और अपने व्यक्तित्व को संवार सकते हैं। किन्तु यदि हमने राम के आदर्श को सम्मुख रखकर भी स्वयं को संवारा नहीं तब केवल मात्र राम की जय बोलने का कोई अर्थ नहीं। राम की जय बोलना तभी सार्थक है जब राम हमारे जीवन में बोलें,

हमारे चरित्र में बोलें। राम का चरित्र क्या है? भगवान् वाल्मीकि कहते हैं **रामो विग्रहवान् धर्मः** अर्थात् **राम धर्म के मूर्त स्वरूप हैं** और वह धर्म क्या है? भगवान् मनु लिखते हैं **आचारः परमो धर्मः** अर्थात् **आचरण ही परम धर्म है** और वह परम धर्म कौन सा है? मनु आगे लिखते हैं **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्— धर्म का मूल वेद है।**

अतः यह सिद्ध होता है रामाचरण वेदाचरण है। और वेदाचरण करने के कारण ही राम हमारे लिए अनुसरणीय है। आज हम इस लेख में भगवान् राम के उसी वेदाचरण की चर्चा करेंगे जिसके कारण वे एक आदर्श हैं।

आदर्श पुत्र —

भगवान् राम एक आदर्श पुत्र हैं। वेद का आदेश है —

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

(अथर्व० ३-३०-२)

अर्थात् पुत्र को सदैव पिता का अनुव्रती, आज्ञाकारी व माता के साथ समान मन वाला होना चाहिए।

भगवान् राम के जीवन को देखने पर पता चलता है कि वे पिता के श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले व माता के मन को प्रसन्न करने वाले थे। **अयोध्या काण्ड** में वाल्मीकि लिखते हैं —

भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशस्थोपमः

(सर्ग १, श्लोक ७)

अर्थात् श्री राम पृथ्वी पर अनुपम पुत्र और गुणों में दशरथ ही के समान थे।

ऐसे ही पीछे बालकाण्ड में लिखते हैं —

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।

(सर्ग १, श्लोक १७)

अर्थात् राम सब गुणों से युक्त और कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं।

मातृदेवोभव पितृदेवोभव के वेद के आदेशपालन का जैसा सुन्दर सन्देश राम का जीवन दे रहा है वह अन्यत्र दुर्लभ है जहाँ राम पिता के व्रत और माता के मन की प्रसन्नता के लिए कठोर से कठोर आज्ञा पालन करने में तत्पर है।

कैकयी द्वारा दशरथ से राम के लिए १४ वर्षों के वनवास का वर मांगने पर दशरथ दुखी होकर बेसुध हो जाते हैं। राम को बुलावा भेजा जाता है। राम आते हैं और अपने पिता को बेसुध स्थिति में देखकर माता कैकयी से पिता के कष्ट व न बोलने का कारण पूछते हैं व कहते हैं यदि अज्ञानतावश मुझसे कोई अपराध हो गया हो जिससे पिताजी मुझसे कुपित हो तो आप कृपया मुझे बताएं। तब कैकयी कहती है — **हे राम! न तो तुमसे कोई अपराध हुआ है और न महाराज तुमसे अप्रसन्न है किन्तु तुम्हारे भय से कुछ कहते नहीं हैं।** माता कैकयी के इन मर्म वचनों को सुनकर राम का हृदय द्रवित हो उठता है और वे गंभीर स्वर में बोलते हैं — **हे माता! पिता की प्रसन्नता के लिए ऐसा कौन सा कार्य है जो मैं नहीं कर सकता। पिताजी मुझसे कह दें तो अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके** मैं जलती चिता में कूद सकता हूँ इतना ही नहीं यदि पिताजी मुझे आज्ञा दें तो **भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं** मैं भयंकर से भयंकर विष का पान कर सकता हूँ और पिताजी अगर मुझसे कह दें तो **मज्जेयमपि चार्णवे** मैं समुद्र में कूदकर अपने प्राण तक दे सकता हूँ। इतना कहकर अपनी माता को पूर्ण विश्वास दिलाते हुए राम बड़े ही ओज और गंभीर स्वर में कहते हैं — **स्मरण रखना माते! रामो द्विर्नाभिभाषते राम कभी भी दो प्रकार की बात नहीं कहता है।**

प्रिय पाठको! भगवान् राम के यह शब्द स्वर्णअक्षरों में लिखने योग्य है। कैसा अनुपम चरित्र है हमारे आदर्श का जो न सिर्फ उनके आदर्श पुत्रत्व को अपितु उनके आदर्श चरित्र को प्रस्तुत करता है। उन्हें पुरुष से पुरुषोत्तम बनाता है। इसी बात को हनुमान्नाटक में भी बड़े सुन्दर शब्दों में कहा गया है —

**द्विः शरं नाभिसंधत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते।।**

— हनुम० १/४८

राम दो बार बाण को धारण नहीं करते अर्थात् राम के बाण अमोघ है जो एक ही बार में शत्रुओं का काम तमाम कर देते हैं। राम दो बार आश्रितों को स्थापित नहीं करते अर्थात् एक ही बार में भली प्रकार यथास्थान नियुक्त कर देते हैं। वे याचकों को दो बार नहीं देते अर्थात् एक ही बार में दरिद्रों के दारिद्र्य का

नाश कर देते हैं। राम कभी दो बातें नहीं कहते अर्थात् एक बार कही हुई बात व प्रतिज्ञा से कभी मुकरते नहीं है उसका पालन करते हैं।

आज राम के इस देश में पदे-पदे अपनी बात से पलटने वाले नेता, अभिनेता व प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों को राम के यह शब्द पुनः पुनः पढ़ने चाहिए और अपने चरित्र का मूल्यांकन करना चाहिए कि वे कितने सच्चे राम भक्त हैं।

पुत्र के लिए वेद में आगे आदेश आया है —
मम पुत्रा शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।

(ऋग० १०-१५६-३)

मेरे पुत्र शत्रुओं का हनन करने वाले हों, मेरी पुत्री अद्वितीय तेज से युक्त हो।

भगवान् राम शत्रुनाशक पुत्र है। पिता की आज्ञा से पहले गुरु विश्वामित्र के सानिध्य में ताड़का और सुबाहु का वध करते हैं व फिर वनवास के दिनों में खर-दूषण समेत उसकी चौदह हजार सेना, मारीच, कुम्भकरण व अंत में रावण समेत समस्त राक्षसी शत्रुओं का विनाश कर देते हैं।

धन्य है राम की ऐसी पितृभक्ति, धन्य है राम का पुत्र धर्म।

आदर्श पति —

संसार की प्रत्येक नारी राम जैसा पति चाहती है। राम एक आदर्श पति हैं। वेद में पति-पत्नी के लिए कहा गया है —

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

(अथर्व ३-३०-१)

तुम दोनों (पति-पत्नी) को सदैव सहृदय युक्त, समान मन वाले और विद्वेष रहित रहना चाहिए। भगवान् राम का पत्नीव्रत धर्म इसका उदाहरण है। महर्षि वाल्मीकि रामायण में लिखते हैं —

**रामस्तु सीतया सार्धं विजहार बहूनुतून्।
मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।।**

(बाल काण्ड, सर्ग ३६, श्लोक २१)

“श्री राम सदा सीता के हृदय मंदिर में विराजमान रहते थे। इस प्रकार राम सीता जी के साथ अनेक वर्षों तक प्रेमपूर्वक रहते रहे।”

सीता राम के विषय में कहती है —

स्वर्गोऽपि च विना वासो भविता यदि राघव।

त्वया मम नरव्याघ्र नाहं तमपि रोचये ॥

(अयोध्या काण्ड, सर्ग २३, श्लोक १३)

“हे राघव! आप जैसे पति बिन यदि मुझे स्वर्ग में भी रहना पड़े तो मुझे पसंद नहीं है।”

भगवान् राम के आदर्श पति होने के ओर भी अनेकों प्रमाण दिए जा सकते हैं जैसे उस काल में जब राजा अनेक पत्नियां रखा करते थे राम का एक पत्नीव्रत होना, शूर्पणखा के विवाह प्रस्ताव को ठुकरा देना, सीताहरण हो जाने पर वन-वन घूमते हुए सीता वियोग में भावुक हो जाना। वस्तुतः यहां इतना कहना पर्याप्त है कि राम सीता से सदा प्रसन्न, मधुर वचन बोलने वाले व पत्नीव्रत धर्म का पालन करने वाले आदर्श पति थे।

आदर्श भाई —

भगवान् राम और उनके भाइयों का भ्रातृ प्रेम अतुलनीय एवं अत्यंत प्रेरणाप्रद है। राम को अपने तीनों भाई प्राणों से भी अधिक प्रिय थे। लक्ष्मण के बिना तो उन्हें नींद भी नहीं आती थी। तो लक्ष्मण भी राम को अपने शरीर से बढ़कर मानते थे। भरत ने अपने बड़े भाई राम के लिए राज्य को ठोकर मार दी। शत्रुघ्न अपने तीनों बड़े भाइयों का अनुकरण करने वाले थे।

भगवान् राम अपने भाइयों से कैसे प्रेम था इसे एक उद्धरण से समझिये। लक्ष्मण के भरत से कुपित होने पर राम लक्ष्मण से कहते हैं —

भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।

राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥

यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद।

भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी ॥

(वा.रा. अयोध्या काण्ड, सर्ग ६८, श्लोक ६,८)

“हे लक्ष्मण! मैं सत्य कहता हूँ कि मैं राज्य की कामना भी भाइयों के पालन और सुख के लिए ही करता हूँ। और

हे मानद! तुम्हारे, भरत और शत्रुघ्न के बिना मुझे जिस किसी वस्तु से सुख मिलता हो अग्नि उसे भस्म कर डालें।”

आज जहां वर्तमान समय में थोड़ी सी सम्पदा के लिए भाई-भाई के खून का प्यासा है वहीं राम और उनके भाइयों का प्रेम इतिहास का ऐसा अद्वितीय

उदाहरण है जिसमें राज्य व सत्ता के चार-चार दावेदार होते हुए भी चौदह वर्ष तक राज सिंहासन खाली पड़ा रहा। कोई भाई राजा बनने को राजी नहीं था। ऐसा दृश्य संसार में अन्यत्र दुर्लभ है। वेद में बड़े सुन्दर शब्दों में कहा गया है —

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(अथर्व ३.३०.३)

भाई-भाई से कभी द्वेष न करें। बहन-बहन से कभी द्वेष न करें। अपितु सभी सम्यक प्रकार से एक दूसरे का सम्मान करते हुए, परस्पर मिलकर एक मन व व्रत वाले होकर एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मधुर शब्दों में सम्भाषण, बातचीत किया करें।

लक्ष्मण द्वारा द्वेषपूर्ण वचन कहने पर कि भरत सेना लेकर युद्ध के लिए चित्रकूट आ रहा है भगवान् राम लक्ष्मण से कहते हैं —

प्राप्तकालं यदेषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमिच्छति।

अस्मासु मनसाऽप्येष नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥

न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः।

(वा.रा. अयोध्या काण्ड, सर्ग ६८, श्लोक १३,१५)

“यह उचित ही है कि भरत इस समय हम से मिलने का इच्छुक है, परन्तु यह सम्भव नहीं कि भरत मन से भी हमारा अनिष्ट चिन्तन करे।

हे लक्ष्मण! भरत के विषय में तुम्हें ऐसे कठोर और अप्रिय वचन नहीं कहने चाहिए।”

भगवान् राम के इस भ्रातृ प्रेम की पराकाष्ठा तब ओर अधिक देखने को मिलती है जब मेघनाद द्वारा शक्ति बाण लगने पर लक्ष्मण मूर्छित हो जाते हैं। वे दुःखी हृदय से कहते हैं—

न हि युद्धेन मे कार्यं नैव प्राणैर्न सीतया।

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा लक्ष्मणं रणेपांसुषु ॥

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।

तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥

(वा. रा. युद्ध काण्ड, सर्ग ५६, श्लोक २,३)

“अब मुझे युद्ध से क्या करना है। युद्ध का अब कोई प्रयोजन नहीं है, अब न तो मुझे सीता चाहिए और न ही अब मुझे ओर अधिक जीने की इच्छा है। क्योंकि स्त्रियां और मित्र तो सब स्थानों पर मिल सकते हैं परन्तु मुझे ऐसा कोई स्थान दिखाई नहीं देता जहां

सहोदर (लक्ष्मण) भाई मिल सके।”

यह था राम का आदर्श भ्रातृ प्रेम जिसकी केवल झलक मात्र यहां दिखाई गई है। अधिक जानने के लिए आप स्वयं वाल्मीकि रामायण का अध्ययन करें जिसमें आपको पदे-पदे राम के आदर्श भ्रातृ प्रेम के दर्शन होंगे।

आदर्श मित्र –

मैथिलीशरण गुप्त ने मित्रता के लिए लिखा है –
मित्र वही है,

**तप्त हृदय को, सरस स्नेह से,
जो सहला दे।**

मित्र वही है,

**रुखे मन को, सराबोर कर,
जो नहला दे।**

मित्र वही है,

**प्रिय वियोग, संतप्त चित्त को,
जो बहला दे।**

मित्र वही है,

**अश्रु बूंद की, एक झलक से,
जो दहला दे।**

भगवान् राम भी ऐसे ही सच्चे और आदर्श मित्र हैं। वेद कहता है **सर्वे आशा मम् मित्रं भवन्तुः** सभी दिशाओं में मेरे मित्र हो। भगवान् राम भी ऐसे ही मित्र वत्सल हैं जहां जाते हैं वही अपने मित्र बना लेते हैं। अयोध्या में उनके मित्र निषादराज हैं, किष्किंधा में सुग्रीव, हनुमान, जामवंत आदि उनके मित्र हैं तो लंका में विभीषण उनके मित्र है और अपने इन्हीं मित्रों की सहायता से वे अपने शत्रुओं पर शीघ्र ही विजय पा लेते हैं। इतना ही नहीं वे अपने मित्रों को भी शत्रु रहित व भय रहित कर मित्रता का सच्चा धर्म निभाते हैं।

किष्किंधा में सुग्रीव से भेंट होने पर वे कहते हैं –

“आप मेरे मित्र हैं, हृदय प्यारे सखा हैं। आज से हम दोनों का दुःख सुख समान है।”

(वा. रा. किष्किंधा काण्ड, सर्ग ४, श्लोक ५)

आदर्श राजा –

राज्य के रंजन करने वाले को राजा कहते हैं। राज्य का संचालन करने वाला राजा है। राजा कैसा होना चाहिए वेद कहता है –

**इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु
राजयातै।**

चर्कृत्य ईज्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥

(– अथर्व० कां० ६। अनु० १०। व० ६८। म० १)

जो शत्रुओं को जीत सके, शत्रुओं से पराजित न हो, राजाओं में सर्वोपरि विराजमान प्रकाशमान हो, सभापति होने के अत्यन्त योग्य प्रशंसनीय गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त हो और शरण लेने योग्य सब का माननीय होवे उसी को सभापति राजा करें।

भगवान् राम भी ऐसे ही गुणों से युक्त आदर्श राजा हैं। भगवान् राम के राज्य का वर्णन करते हुए वाल्मीकि युद्ध काण्ड के अंतिम सर्ग (७४/२५, २६, २८, २९, ३१) में लिखते हैं –

“राम के राज्य में न तो विधवाएं विलाप करती थी, न हिंसक पशुओं का भय था और न रोगों का भय था। राम राज्य में एक भी व्यक्ति चोर नहीं था। दूसरे के धन को लेना तो दूर कोई छूता भी नहीं था। राम के राज्य में एक भी व्यक्ति दुखी व दरिद्र नहीं था। सभी प्रजाजन सदैव प्रसन्न रहते थे। मनुष्यों की आयु दीर्घ और वृक्ष सदा फलते फूलते रहते थे। राम राज्य में एक भी व्यक्ति झूठ नहीं बोलता था एवं समस्त प्रजा सत्यपरायण एवं धर्मपरायण होती थी।”

प्रिय पाठकगणों! ऐसे महान् थे राजा राम और ऐसा महान् व सुन्दर था उनका रामराज्य जो आज तक एक आदर्श है।

प्रबुद्ध पाठको! आज आवश्यकता है पुनः राम के इन आदर्शों को जीवन में व समाज में अपनाने की। महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं जो उनके इस ग्रंथ रामायण को पढ़ाता व सुनता है उसके पाप करने की प्रवृत्ति छूट जाती है। उनका काव्य आयु, आरोग्यता और यश को बढ़ाने वाला है। शास्त्रकारों का कहना है **यो यथा चिन्तयति तथा भवति** – जो जैसा चिंतन करता है वह वैसा ही हो जाता है। इसलिए आज आवश्यकता है राम के इस आदर्श चरित्र व व्यक्तित्व पर बारम्बार चिंतन व मनन करने की और वाल्मीकि द्वारा प्रतिपादित राम के सच्चे जीवन चरित्र को जन-जन तक प्रचारित करने की जिससे हम सच्चे अर्थों में राम के आदर्श को सम्मुख रख कर स्वयं को सवार सके। अस्तु *****

रामायण में सीता की अग्निपरीक्षा

- डॉ. विवेक आर्य
नई दिल्ली

रामायण महाकाव्य में सीता अग्निपरीक्षा एक विवादित प्रसंग के रूप में जाना जाता है। इस प्रसंग के अनुसार राम द्वारा रावण को युद्ध में हराने के पश्चात लंका में सीता को स्वीकार करने से पहले सीता की अग्निपरीक्षा ली। अग्नि में प्रवेश करने के पश्चात भी सीता का शरीर भस्म नहीं हुआ। इससे सीता की पवित्रता सिद्ध हुई और श्री राम द्वारा सीता को पवित्र जानकार स्वीकार कर लिया गया।

सीता की अग्निपरीक्षा के प्रसंग को लेकर अनेक लोगों के विभिन्न विभिन्न मत हैं। महिला अधिकारों के नाम पर दुकानदारी करने वाले इसे नारी जाति पर अत्याचार, शोषण, नारी के अपमान के रूप में देखते हैं। विधर्मी मत वाले इस प्रसंग के आधार पर हिन्दू धर्म को नारी शोषक के रूप में चित्रित करते हैं जिससे धर्मान्तरण को समर्थन मिले। अम्बेडकरवादी इसे मनुवाद, ब्राह्मणवाद के प्रतीक के रूप में उछालकर अपनी भड़ास निकालते हैं। जबकि हमारे कुछ भाई इसका श्री राम की महिमा और चमत्कार के रूप में गुणगान करते हैं। क्योंकि उनके लिए श्री रामचन्द्र जी भगवान के अवतार हैं और भगवान के लिए कुछ भी सम्भव है।

इस लेख में सीता की अग्निपरीक्षा को तर्क की कसौटी पर पक्षपात रहित होकर परीक्षा करने पर ही हम अंतिम निष्कर्ष निकालेंगे।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी सोचे तो यह संभव ही नहीं है कि आग में जाने के बाद मानव शरीर बिना जले सकुशल बच जाये। क्या अग्नि किसी की पवित्रता की परीक्षा लेने में सक्षम है? वैज्ञानिक तर्क के विरुद्ध सीता अग्निपरीक्षा को चमत्कार की संज्ञा देना मन बहलाने के समान हैं। केवल आस्था, विश्वास और श्रद्धा रूपी मान्यता से संसार नहीं चलता। किसी भी मान्यता को सत्य एवं ज्ञान से सिद्ध होने पर ही ग्रहण करने योग्य मानना चाहिए। इस आधार पर भी सीता की अग्निपरीक्षा एक मनगढ़त प्रसंग सिद्ध होता है।

सुन्दरकाण्ड में हनुमान जी सीता और रावण की और रावण की बातचीत सुनते हैं। वहाँ पर सीता जी साफ साफ रावण को अपमानित करती हैं। यह जानकारी हनुमान जी ने श्रीराम राम को दी है। उसके बाद अग्नि परीक्षा का कोई औचित्य ही नहीं रहता।

युद्धकाण्ड सर्ग 115 (कुछ संस्करणों में सर्ग 118) का श्लोक 10 देखिए।

इत्येवं वदतः श्रुत्वा सीता रामस्य तद्वचः।

मृगीवोत्फुल्लनयना बभूवाश्रुपरिप्लुता।।

श्रीराम जी की बातें सुनकर सीताजी की आंखें खुशी के आंसुओं से भर गईं। सीता जी मिलने के बाद मुख्य कार्य अयोध्या में भरत से मिलना था।

इसके बाद प्रक्षेपकार ने अगले 5 सर्गों में लगातार मिलावट की है। अधिकांश असम्भव बातें लिखी हैं। जैसे श्रीराम जी सीता को कहते हैं कि मैंने युद्ध तुम्हारे लिए नहीं किया। तुम कहीं चली जाओ, फिर अग्नि परीक्षा और अग्निदेव का आना। उसके बाद स्वर्ग से दशरथ का आना। स्वर्ग के राजा इन्द्र का आना। इन्द्र का अमृत बरसाकर मृत वानरों को जीवित करना आदि। यह सभी असम्भव बातें इस घटना को मिलावटी सिद्ध करती हैं।

वाल्मीकि रामायण के श्री रामचन्द्र महान व्यक्तित्व, मर्यादापुरुषोत्तम, ज्ञानी, वीर, महामानव, ज्येष्ठ-श्रेष्ठ आत्मा, परमात्मा का परम भक्त, धीर-वीर पुरुष, विजय के पश्चात् भी विनम्रता आदि गुणों से विभूषित, महानायक, सद्गृहस्थ तथा आदर्श महापुरुष थे। ऐसे महान व्यक्तित्व के महान गुणों के समक्ष सीता की अग्निपरीक्षा कर पवित्रता को निर्धारित करना एक बलात् थोपी गई, आरोपित, मिथ्या एवं अस्वीकार्य घटना प्रतीत होता है। श्री राम के महान व्यक्तित्व एवं आदर्श विचारों के समक्ष यह प्रसंग अत्यंत तुच्छ हैं। इससे सिद्ध हुआ कि यह प्रसंग बेमेल हैं।

सुग्रीव की पत्नी रूमा जिसे बाली ने अपना बंधक बना कर अपने महलों में रखा हुआ था को बाली वध

के पश्चात जब सुग्रीव स्वीकार कर सकता है। तो श्री राम हरण की हुई सीता को क्यों स्वीकार नहीं करते? श्री राम को आदर्श मानने वाले इस तर्क का कोई तोड़ नहीं खोज सकते।

वैदिक काल में नारी जाति का स्थान समाज में मध्य काल के समान निकृष्ट नहीं था। वैदिक काल में नारी वेदों की ऋषिकाओं से लेकर गार्गी, मैत्रयी के समान महान विदुषी थी, कैकयी के समान महान क्षत्राणी थी जो राजा दशरथ के साथ युद्ध में पराक्रम दिखाती थी, कौशलया के समान दैनिक अग्निहोत्री और वेदपाठी थी। सम्पूर्ण रामायण इस तथ्य को सिद्ध करता है कि रावण की अशोक वाटिका में बंदी सीता से रावण शक्तिशाली और समर्थ होते हुए भी सीता की इच्छा के विरुद्ध उसके निकट तक जाने का साहस न कर सका। यह उस काल की सामाजिक मर्यादा एवं नारी जाति की पत्नीव्रता शक्ति का उद्बोधक हैं। रामायण काल में सामाजिक मर्यादा का एक अन्य उदहारण इस तथ्य से भी मिलता है कि परनारी को अपहरण करने वाला रावण और परपुरुष की इच्छा करने वाली शूर्पणखा को उनके दुराचार के राक्षस कहा गया जबकि सभी प्रलोभनों से विरक्त एवं एक पत्नीव्रत श्री राम और शूर्पणखा के व्यभिचारी प्रस्ताव को टुकराने वाले लक्ष्मण जी को देव तुल्य कहा गया हैं। ऐसे महान समाज में विदुषी एवं तपस्वी सीता का सत्य वचन ही उसकी पवित्रता को सिद्ध करने के लिए पूर्ण था। इस आधार पर भी सीता की अग्निपरीक्षा एक मनगढ़त प्रसंग सिद्ध होता है।

रामायण नारी जाति के सम्मान की भी शौर्य गाथा भी है। यह सन्देश देती है कि अगर एक अत्याचारी परनारी का हरण करता है तो चाहे सागर के ऊपर पुल भी बनाना पड़े, चाहे वर्षों तक जंगलों में भटकना पड़े, चाहे अपनी शक्ति कितनी भी सीमित क्यों न हो। मगर दृढ़ निश्चयी एवं सत्य मार्ग के पथिक नारी जाति के तिरस्कार का, अपमान का प्रतिशोध प्राण हरण कर ही लेते हैं। ऐसी महान गाथा में सीता की अग्निपरीक्षा जैसा अनमेल, अप्रासंगिक वर्णन प्रक्षिप्त या मिलावटी होने के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। *****

उपयोगी बातें कोरोना के लिए

निर्मल-स्वच्छ रखो तन-मन को,
घटे असाध्य व्याधि-अँधियार।
स्वच्छ-शुद्ध परिवेश ही होता-
घातक रोग मात्र उपचार॥

हाथ-पैर-प्रक्षालन करता,
सदा स्वस्थ, यदि तन रोगी।
प्राणायाम-योग आदत को-
सब जन सदा करें स्वीकार॥

खान-पान में रहे सादगी,
फल-सब्जी भी मौसम की।
सुबह-शाम का भ्रमण है औषधि-
यही है कुद्वरत का उपकार॥

भगवत भजन, संत जन-सेवा,
शुभ विचार, शुभ चिंतन भी।
देते सुख अपार जन-जन को-
साथ विमल-मधुरिम व्यवहार॥

दूर-दूर रह कर भी सुन लो,
प्रेम-दीप की लौ न थमे।
प्रेम-भाव का तेल व बाती-
सदा रखे इसको उजियार॥

मानवता बस धर्म एक हो,
ममता-समता, शुद्ध विचार।
अपन-पराया-भाव विनाशक-
भाव एकता समय-पुकार॥
सब जन सदा करें स्वीकार॥

- 🙏 डॉ० हरि नाथ मिश्र

9919446372

A Biographical sketch of Pandit Gurudatta Vidyarthi

-  Pandit Chamupati

Pandit Gurudatta Vidyarthi is recognized to have been the greatest achievement of Rishi Dayananda for his ancient Aryan church. The dying glance of the Rishi had miraculously transformed the mettle which was there in the young intrepid scholar. Had not death cut short his scholastic career so early, the Arya Samaj and through it the whole world of religious and metaphysical thought may have been considerably enriched by his erudite philosophic contributions, of which the few dissertations and brief discourse he could, in the midst of his manifold activities, find time to write, gave sure promise.

An unmistakable vein of sincere love of truth for which no sacrifice of personal glory and earthly possession and comfort was too great, runs through them all. This marks Gurudatta out as a genuine philosopher, whose craving for spiritual light was not simply intellectual, it was the innermost call of his disconsolate soul.

He it was who recognized in the last glance of Rishi Dayananda the soul of a seer, anxious to save a money-mad world from the dismal abyss of gross materialism, to guide it away by the help of the eternal light of the Veda to the empyrean heights of Spiritual Bliss. In that departing glance he read a message, a command to take up the challenge which the asuri demonical, forces of Mammon were throwing out to the ancient diava, divine, culture of the Rishis.

The young boy of nineteen took the challenge up, and coming of a warlike race fought to the last on the side of truth and righteousness. His was the death of a hero who, like another young boy whom Muse glorifies as having died on the station of his duty in another sphere.

Pandit Gurudatta was the last male child of Lala Radhakishen Sardana of Multan, whose ancestors had distinguished themselves in the field both, of letters and arms. He was born on 26th April 1864.

His grandfather was the ambassador of Nawab of Bahawalpur in the court of the Amir of Kabul. From him he inherited an aptitude from Persian which by a little training in the primary classes gave him a working mastery of that language so that he could in his boyhood dip into the deepest waters of the Persian literature. He conceived a fondness for Samskrita too in his schooldays. And the first book that after his study of the Samskrita Priimer fell into the young boy's hands was the Rig Vedadi Bhashya Bhumika of Swami Dayananda.

He forthwith approached the authorities of Arya Samaj at Multan and challenged them to either make arrangements for his study of the Ashtadhyayi and the Vedas or accept that the scriptures for which they claimed infallibility were only trash. The alternatives proposed appear to us to be an index to his sinner nature. In his heart of hearts he was convinced of the intellectual and spiritual

worth of the Vedas, an introduction to which by the Rishi of the time he had already read.

It was his impatience, and irresistible zeal to read more which prompted him to the blasphemous insinuation that the Vedas could, if they were not taught him, be regarded as trash. The Multan Arya Samaj engaged a Pandit who found it beyond his learning and pedagogic capacity to satisfy the little Vidyarthi.

The Vidyarthi solved his own puzzles of Grammar and the Vedas, and though the arrangement made by the Samaj was not satisfactory, he did not regard the Vedas as trash. In 1881 he matriculated. It was this year that he got himself registered in the Arya Samaj as member. In 1883 he undergraduated. He had in the interim founded a Free Debating Club, where profound philosophical questions used to be discussed.

Gurudatta was now passing through that period of his life when the mind of a young man is yet in a fluid state. The college days of mental and spiritual intractability. The supreme authority to a college-boy is his own virgin opinion. In those days, if ever, liberty of thought holds an absolute way over man's mentality.

The age of greatest impressionability is also the age of greatest intractability. Everyday and every hour new opinions are borrowed. Every new thought however has during the regime its suzerainty absolute. Pandit Gurudatta's progress in grasping and assimilating ideas and facts was tremendously rapid. Somehow he acquired the notoriety of being an atheist.

Those who had the occasion to live close to him bear witness to a strong skeptic disposition in him, which to them was a mark of an intensely inquisitive frame of mind. Gurudatta, even when some thought he was an atheist, continued a staunch Arya Samajist. And when the news was received of Rishi Dayananda's illness at Ajmer, the Arya Samaj at Lahore deputed Lala Kivan Das and Gurudatta to go and tend him.

The resources of the Arya Samaja appear to have been very poor at the time so that the choice for an errand of such importance and responsibility could fall on a lad of nineteen. To Gurudatta the occasion afforded an opportunity of his first and last darshana of his beloved Rishi. He saw the Rishi Dying. Not a word passed between the Master and his devotee, but Gurudatta's whole nature had in the meantime silently taken a turn.

When he returned to Lahore, he was evidently a changed man. His former frivolity, his impatience, his skepticism had in an instant left him. The zeal was there, but now it was wedded to seriousness. Somehow the feeling had dawned on Gurudatta that the Rishi had by his last glance let his mantle drop on his shoulders. To others the privileges of succession, to Gurudatta were passed the obligations of the Rishi's mission.

In 1885 he graduated and in 1886 he passed his M.A. His subject was Physical Science. The position secured by him in the pass list remains yet a record in the University which no succeeding candidate has yet surpassed. In the meantime Gurudatta had been touring the Punjab

attending anniversaries of Arya Samajis. He had been busy reading the scriptures and books on philosophy and religion both eastern and western.

For two years he was acting Professor at the Government College where his deep erudition and pedagogic capability met with high and well-merited appreciation. The movement to found a college in memory of Rishi Dayananda had, since the death of the Sage, been launched by the guiding spirits of the Arya Samaj.

Gurudatta threw himself heart and soul into the campaign to collect funds for that, to him a sacred institution. The speeches he delivered on behalf of the cause were recognized as wonderful specimens of erudition and oratory. The D.A.V. College of Pandit Gurudatta's dream was an institution where Brahmacharya would be the dominant factor in life of the students and ancient Shastras the primary study in the curriculum of the academy. He was yet living when under the influence of the University the D.A.V. college was given its present shape and character.

He expressed strong dissatisfaction with his disagreement with its then conductors as regards their educational policy. In the short period of six years after he had seen the Rishi he had acquired marvelous mastery of sacred books of Samskrita. A treatise by him entitled "The Terminology of the Vedas" was included in the course of Sanskrita for the degree examination at Oxford.

His translation of a few of the Upanishads, when after his death copies of it were sent to America on the occasion of the Parliament of Religions held in Chicago in 1896, won

such appreciation that an American edition of it was published by an American publisher, of his own accord.

Gurudatta spoke for hours in Samskrita, which feat won him the title 'Pandit' which sticks still to his name. He in his humility styled himself Vidyarthi, while those who heard him styled him Pandit. This was true Brahmi spirit which marked Gurudatta throughout his career. To his Ashtadhyayi class came some old men, among them an E.A.C who had taken leave for the sole object of reading Grammar with Gurudatta. A young man of only twenty-six, attracting pupils of all ages, and making such stir among the populace recalled scenes from the hoary history of Bharata Varsha of the time of Janaka and Yajanvalkya.

The strain on the nerves of Gurudatta had been great. He had tried to compress within three years what normally should have taken a life-time to accomplish. He had amassed a great deal of learning, so that in his time he well-nigh became an authority on the true meaning of scriptures. But his ceaseless assiduity had cost him his health.

During his school days Gurudatta had been fond of physical exercise: His physique was strong, but his mental labor had of late been great, so that in 1889 he fell victim to consumption, and finding it impossible even then to rest, succumbed to the dire disease in March 1890. he was advised by doctors to take meat, which would uphold him in his weakness. But the smiling answer of the Vidyarthi was:-

"Will meat make me immortal? Will it make me death-proof ever after? If not, why for a

chance of saving one's own life bring about certain death of another?

During the night in which Pt. Gurudatta died Ish-Upanishad had at his request been repeated recited to him. His references to incidents in Rishi Dayananda's life had always formed a pathetic portion of his speeches. People had therefore urged him to write a biography of the Swami, which the Pandit had gladly consented to do so. When the Pandit was on the point of death somebody asked where his manuscript of the biography was. The Pandit characteristically During the night in which Pt. Gurudatta died Ish-Upanishad had at his request been repeated recited to him. His references to incidents in Rishi Dayananda's life had always formed a pathetic portion of his speeches. People had therefore urged him to write a biography of the Swami, which the Pandit had gladly consented to do so. When the Pandit was on the point of death somebody asked where his manuscript of the biography was. The Pandit characteristically replied,

"I have been trying conscientiously to record the life-account of my Rishi not on paper, not in ink, but in my own day-to-day life. It was my ambition to live Dayananda. My body, alas! Has failed me. I lay it down, gladly in the hope that the next vehicle will be more in conformity with the aspirations of the soul."

To us a thread appears to run through the variegated phases of Gurudatta's life. He was a heroic soul, passionately zealous, impatiently inquisitive, conscientious and inordinately sincere and true. He believed in

the Vedas and yet in his zeal to be able to read more of them declared his readiness to denounce them as trash. He believed in God and yet in his zeal to understand His nature more thoroughly he argued His existence with himself and others and thus appeared as if he were an atheist. He was born for a mission, and when the last glance of the Rishi had pointed the path to him, he had, as it were, almost doubled his age, and become grave and thoughtful like a man of fifty.

The inability to at once take the place of the Rishi was to him intolerable. He wanted instantly to shake off his physical and mental limitations and at once become a sage. The ambition was great, but in it there was not vestige of self-conceit. He was trying everyday of his life to become Dayananda. To that end he learnt Yoga exercises, and when even these could not bridge the mental and spiritual distance between him and his goal he willingly laid down his life. His was the glory of a martyr to his own tyranny.

The day of his death was honored by local colleges and courts being closed for a holiday. The world of letters mourned his loss as the loss of a literary prodigy. The Punjab University was conscious that it has lost its only scholar whose earliest productions has met with recognition at the hands of those who were competent to judge, both in and outside the country.

Of the Arya Samaj he was the one hope. The spirit that inspired him has, however lived. It will forever continue inspiring young hearts. O that he had taken better care of his body. *****

W.H.O. का यह सन्देश
मास्क लगाएँ सारे देश

विश्व स्वास्थ्य दिवस

April 7



आचार्य वेदप्रिय शास्त्री

आर्य परिवार संस्था विज्ञाननगर, कोटा